6862

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष–५१ किरण–१ जनवरी–मार्च १९९८

वीर सेवा मंदिर, २९ दरियागंज, नई दिल्ली–११०००२

दूरभाष : ३२५०५२२

भट्टारकों की नग्नता और क्रियाकलाप

हाल ही में हमें श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र के संयुक्तमंत्री श्री बलभद्र कुमार जैन द्वारा प्रेषित क्षेत्र का संक्षिप्त इतिहास एवं कार्य विवरण मिला है। जिसमे भट्टारकों के नग्न रहने जैसे प्राचीनतम रूप को अंकित किया गया है साथ में उनके मूर्ति प्रतिष्ठा कराने आदि जैसे अनेक कार्य कलापो का उल्लेख भी है। तथाहि–

"सवत् १८२७ (सन् १७७०) मे वरवतराय साह द्वारा रचित 'बुद्धिविलास' ग्रथ के पृष्ठ ७८ के अनुसार फिरोजशाह तुगलक के शासनकाल (सन् १३५१ से १३८०) में प्रभाचन्द्र भट्टारक ने दिल्ली मे लगोट पहनने की प्रथा का प्रारम्भ किया था। **उससे पूर्व भट्टारक नग्न ही रहते थे।** इस महत्त्वपूर्ण लक्ष्य की पुष्टि राजस्थान विश्वविद्यालय के जैन अनुशीलन केन्द्र के डॉ प्रेमचन्द्र जैन के उस लेख से भी होती है जो सन् १९८३ मे प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका के द्वितीय खण्ड के पृष्ठ ४२ पर छपा है। लेख मे डॉ जैन ने लिखा है कि दिल्ली के शासक फिरोजशाह के शासन मे नागौर क्षेत्र के दिगम्बर जैन समुदाय के भट्टारक द्वारा **दिल्ली में वस्त्र धारण करने की प्रथा का श्रीगणेश हुआ।**"–पृष्ठ ७

"भट्टारको को जागीर मे ग्राम, भूमि, बाग, मन्दिरो के निर्माण, धार्मिक अनुष्ठान, मूर्तिप्रतिष्ठा के लिए अनुदान दिए जाते थे।"–प्रस्तावना पृष्ठ ५

भट्टारकों की कार्यावली एवं पद्धति प्रसंग में उनके कार्यों में मूर्तिप्रतिष्ठा, ग्रन्थ लेखन और उनका संरक्षण, शिष्य, परम्परा, तीर्थयात्रा और व्यवस्था आदि का उल्लेख है।

उक्त प्रसंग से पाठकों को सन्देह न हो जाय कि कहीं वर्तमान में उन जैसे कार्यकलापों में लीन कतिपय नग्न साधु उन प्राचीनतम भट्टारकों की उसी परम्परा में तो नहीं हैं। हमें स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि दिगम्बर मुनि के २८ मूलगुण होते हैं–वे भट्टारकों में नहीं होते। दिगम्बर मुनि सदैव विषयाशारहित, आरम्भ–परिग्रह रहित और सदा ज्ञान, ध्यान एवं तप में लीन रहते हैं–वे भट्टारकों की भाँति जागीर आदि के प्रपंचों से सर्वथा रहित होते हैं।

–सम्पादक

व्यवहारनय भूतार्थ है

—रूपचन्द कटारिया

समय—पाहुड़ की प्राचीन प्रतियो में ग्यारहवीं गाथा का मूल पाठ निम्न प्रकार से मिलता है

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवइ जीवो।।

(१) ताड़पत्रीय प्रति, श्रवणबेलगोला।

(२) समय—प्राभृत प० गजाधर लाल, सनातन जैनग्रन्थमाला वी.नि स २४४० १९१४

(३) समय—प्राभृत श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ, भारतवर्षीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता वी नि.स २४६८

(४) समयसार—परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, श्री दि जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ वी नि स २४६९

उक्त गाथा की संस्कृत छाया निम्न प्रकार से की गई है—

'व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः।।

व्यवहारनय अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ है, शुद्ध अर्थात् निश्चयनय भूतार्थ सत्य है। निश्चय के आश्रित ज़ीव सम्यगदृष्टि होता है।

व्यवहार नयो कि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतार्थ प्रद्योतयति, शुद्ध नय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थ प्रद्योतयति। —आत्मख्याति टीका

व्यवहारनय सब ही आभूतार्थ है इसलिए वह अविद्यान असत्य अभूत अर्थ को प्रगट करता है। शुद्ध नय एक ही भूतार्थ होने से विद्यमान सत्यार्थ अर्थ को प्रगट करता है। —प परमेष्ठीदास कृत अनुवाद

इस गाथा की छाया के अनुसार ऐकान्तिक अर्थ करने के कारण तथा मूल गाथा के प्रतिकूल होने से विवादास्पद रहा है। जयसेन को भी उपर्युक्त अभूतार्थ अर्थ स्वीकार्य नही था इसीलिए उसका निम्न विकल्प तात्पर्यवृत्ति टीका मे प्रस्तुत किया है।

'द्वितीय व्याख्यानेन पुन **ववहारो अभूदत्थो** व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च **देसिदो** देशित. देशित. कथित. न केवलं व्यवहारो देशित. **सुद्धणओ** शुद्धनिश्चयोपि। दु शब्दादय. शुद्ध निश्चयनयोपीति व्याख्यानेन भूताभूतार्थभेदेन व्यवहारोऽपि द्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चियभेदेन निश्चय नयोपि द्विधा इति नयचतुष्टयम्।।'

द्वितीय व्याख्यानुसार व्यवहार को अभूतार्थ और भूतार्थ कहा है। मात्र व्यवहार ही नही, अपितु शुद्ध निश्चयनय भी भूतार्थ है। दु पद से सकेतित है कि जिस प्रकार भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से व्यवहार दो प्रकार का है उसी प्रकार शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय के भेद से निश्चयनय के भी दो भेद है। इस प्रकार भूतार्थ कोटिक चार नय है।

सस्कृत छाया मे सस्कृत व्याकरण के **'एड: पदान्तादति'** सूत्र के अनुसार अ खण्डाकार का प्रयोग पूर्वरूप मानकर हुआ है। जबकि प्राकृत के अनुसार पूर्वरूप नही होता। यदि पूर्वरूप होता तो समयपाहुड की निम्नलिखित गाथाओ मे भी 'ओकार' के बाद 'अकार' होने से वहां भी पूर्वरूप होना चाहिए था। जो कि नही हुआ है। जैसे–

जह णवि सक्कमणज्**जो अ**णज्ज भासं विणा दु गाहेदु	गाथा–८
तो त अणुचरदि **पुणो अ**त्थत्थीओ पयन्तेण	गाथा–१७
एवमेव ववहा**रो अ**ज्झ वसाणादि अण्णभावाण	गाथा–४८
तिविहो एसुवओ**गो अ**प्पवियप्प करेदि कोहोह	गाथा–९४
तिविहो एसुवओ**गो अ**प्पवियप्प करेदि धम्मादी	गाथा–९५
जई एस तुज्झ जी**वो अ**प्परिणामी जदा होहि	गाथा–१२१
णाणिस्स दु णाणम**ओ अ**ण्णाण मओ अणाणिस्स	गाथा–१२६
उद**ओ अ**संजमस्स दु जं जीवाणं हवेई अविरमण	गाथा–१३३
कम्मोदयेण जी**वो अ**ण्णाणी होहि णादव्वो	गाथा–१६२
हेदु चदुवियप्**पो अ**ट्ठवियपस्स कारण भणिद	गाथा–१८७
अण्णाण तमोच्छण्**णो आ**द सहाव अयाणतो	गाथा–१८५

अप्पाण झायतो दसण णाण म**ओ अ**णण्णमओ	गाथा–१८९
जहमज्ज पिबमा**णो अ**रदिभावेण ण पुरिसो	गाथा–१९६
अप्पाण मयाण**तो अ**णप्पय चावि सो अप्पाण तो	गाथा–२०२
मज्झ परिग्गहो जदि त**दो अ**हमजीवद तु गच्छेज्ज	गाथा–२०८
अपरिग्ग**हो अ**णिच्छो	गाथा–२१०
अपरिग्ग**हो अ**णिच्छो	गाथा–२११
अपरिग्ग**हो अ**णिच्छो	गाथा–२१२
अपरिग्ग**हो अ**णिच्छो	गाथा–२१३
सो भू**दो अ**ण्णाणी	गाथा–२५०
जो अप्पणादु मण्णदि	गाथा–२५३
सव्वे करेदि जी**वो अ**ज्झवसाणेण	गाथा–२६८
सव्वे करेदि जी**वो अ**ज्झवसाणेण	गाथा–२६९
कुव्वतो वि अभ**व्वो अ**ण्णाणी	गाथा–२७४
मोक्ख असद्दह**तो अ**भवियसतो दु **जो अ**धीएज्ज	गाथा–२७४
बधो छेदे दव्वो सु**द्धो अ**प्पा य घेतव्वो	गाथा–२९५
बधो छेदे दव्वो सु**द्धो अ**प्पा य घेतव्वो	गाथा–२९६
बधो छेदे दव्वो सु**द्धो अ**प्पा य घेतव्वो	गाथा–२९७
बधो छेदे दव्वो सु**द्धो अ**प्पा य घेतव्वो	गाथा–२९८
बधो छेदे दव्वो सु**द्धो अ**प्पा य घेतव्वो	गाथा–२९९
जाण**तो अ**प्पय कुणदि	गाथा–३२६
भणि**दो अ**ण्णेसु	गाथा–३६५

–समयसार उद्धृत (४)

उक्त सन्दर्भो से फलित होता है पूर्वरूप का नियम सस्कृत का है और प्राकृत मे प्रयुक्त नही होता। कदाचित् 'ओ' के बाद 'अ' होने पर 'अ' पूर्वरूप इष्ट होता तो अनादि मूलमत्र मे **'णमोअरहंताणं'** के स्थान पर **'णमोऽरहंताणं'** पाठ होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि टीकाकार आचार्य श्रीअमृतचन्द्र ने सस्कृतछाया का अनुगमन करते हुए ही 'व्यहारोऽभूतार्थो मानकर टीका की है। ध्यान देने योग्य बात है कि जिस प्रकार आचार्य श्री जयसेन ने प्राकृत पदानुसारिणी टीका की है

उस प्रकार आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने प्राकृत पदों का प्रयोग अपनी टीका मे नही किया है। अत स्पष्ट है कि आत्मख्याति टीका का आधार गाथा की सस्कृतछाया मात्र ही था।

उक्त गाथा का छन्दशास्त्र की दृष्टि से विचार करते हुए यह कहा जाता है कि प्रथम पाद मे अक्षर अधिक होने के कारण 'अ' का पूर्वरूप मानते हुए 'अभूतार्थ' अर्थ मान्य किया जा रहा है, परन्तु यह उचित प्रतीत नही होता। मूलग्रन्थ कर्ता छन्दभग के दोष की निवृत्ति **ववहार अभूदत्थो/ववहाराभूदत्थो** पद देकर कर सकते थे परन्तु ऐसा नही किया। जिससे आचार्य श्री अमृतचन्द्र के अभिप्राय की पुष्टि नही होता यत मूल आचार्य को 'ववहारो भूदत्थो' पाठ ही इष्ट था। अभूदत्थो नही। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि समयपाहुड़ के उत्थानिका के प्रकरण मे उक्त गाथा है और उत्थानिका की गाथाये हमेशा ग्रन्थ के हार्द का सक्षेप मे स्पष्ट संकेत करने वाली होती है जिसका विस्तार सम्पूर्ण ग्रन्थ मे होता है।

प्रकृत गाथा के भूदत्थो पद का सस्कृत भाषा के अनुसार सत्यार्थ अर्थ भी किया जाता है। जबकि समय पाहुड़ के कर्ता को सत्यार्थ अर्थ इष्ट नही है यदि उन्हे 'सत्य' अर्थ इष्ट होता तो स्पष्ट अर्थ के द्योतक गाथा पाठ **'ववहारो सच्चत्त्थो'** दे सकते थे, परन्तु उन्होने ऐसा नही किया। उन्हे तो **'भूदत्थो'** ही इष्ट था जिसका सकेत आगमिक और जिनोपदिष्ट नय की ओर है। नय जिनवचन रूप होते है और नित्य सत्य होते है जैसा कि निम्नाकित गाथा से सपष्ट है।

जिणवयण णिच्चसच्चा सव्वणया पर वियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा।।

–कषायपाहुड़, भाग १ पृ २५७

जिनोपदिष्ट सभी नय अपने–अपने विषय का कथन करने से समीचीन है और नित्य सत्य और दूसरे नयो का विचार करने मे मोहित है और अन्य नयो के बारे मे मौन है, वे उसके मित्र है विरोधी या झूठे नही। अनेकान्त रूप समय (आगम) के **ज्ञातापुरुष यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है। ऐसा विभेद नहीं करते हैं।**

अत व्यवहार नय भूतार्थ है जिसका अर्थ है कि व्यवहार जिनोपदिष्ट है और वस्तु के अश को ग्रहण करने वाला नय है तथा अन्य नयों की सापेक्षता से प्रमाण की ओर ले जाने वाला है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी आचार्य श्री अमृतचन्द्र शंकराचार्य के बाद मे हुए उस समय में सम्भवत अद्वैतवाद का प्रचण्ड प्रचार था और 'अद्वैतवाद ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' की उक्ति सर्वत्र बहुचर्चित थी। हमारी दृष्टि में आचार्य अमृतचन्द्र ने उस उक्ति को आत्मसात् करते हुए ब्रह्म के स्थान पर आत्मा तथा व्यवहार को लोकव्यवहार रूप माया मानते हुए मिथ्या प्ररूपित किया हो तथा शंकराचार्य का जो 'अध्यास' मिथ्या है उसी का अनुसरण करते हुए व्यवहार नय को मिथ्या निरुपित कर दिया। यह भी स्मरणीय है कि उक्त काल जिन–शासन के लिए संक्रमणकाल का दौर था और ऐसे समय मे जिन–शासन की रक्षा का श्रेय आ. श्री अमृतचन्द्र को ही जाता है। हालांकि इससे व्यवहार–चारित्र ही हानि भी हुई। परन्तु आज गणतन्त्र के युग में न तो तत्कालीन परिस्थितियां है और न ही वाद–विवाद शास्त्रार्थ की जय–पराजय दृष्टि। अत: अनेक नयों की अलग अलग निरुक्तियां करने की आवश्यकता नही है। आश्चर्य है कि कब और कैसे यह प्रचलित हो गया कि आगम के नय अलग होते हैं और अध्यात्म के नय दूसरे। अध्यात्म आगम से बहिर्भूत नही हो सकता और न ही इस दृष्टि को मान्य ही किया जा सकता है कि आगमिक नय अध्यात्म मे व्यवहृत नहीं होते या आध्यात्मिक नय आगमिक नही होते।

अन्तत. आचार्य अमृतचन्द्र की अद्वैतानुसारिणी टीका को पढ़कर आ. कुन्दकुन्द पर शंकराचार्य का प्रभाव मानते हुए इस निष्कर्ष को बल देने की प्रवृत्ति बढ़ी है कि वे शंकराचार्य के समकालीन या बाद के आचार्य है जबकि गाथाओ मे कहीं भी शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। यह निर्विवाद सिद्ध है कि आचार्यकुन्दकुन्द श्रुतकेवली के साक्षात् शिष्य थे। जैसाकि निम्नस्पष्ट है–

वारस अंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ।

विपुल विस्तार वाले बारह अंग और चौदह पूर्व ज्ञान के बोधक/निश्चायक गुरु श्रुतज्ञानी भगवान भद्रबाहु जयवन्त हों।

अस्तु, उक्त गाथा के 'ववहारो भूदत्थो' जिसका अर्थ व्यवहार भूतार्थ है जिनोपदिष्ट तथा वस्तु के अश को ग्रहण करने वाला नय मानते हुए तथा आगमिक नयानुसार वस्तुतत्व का चिन्तन एवं ज्ञान करते हुए स्वपरकल्याणोन्मुख हों। यही भावना भाता हूं।

३७, राजपुर रोड, दिल्ली–११००५४

अपभ्रंश साहित्य में पार्श्वनाथ

—प्रो० डॉ० लाल चन्द जैन

भगवान पार्श्वनाथ जैन धर्म के तेईसवे तीर्थकर के रूप मे प्रसिद्ध है। भारतीय दार्शनिको, विशेषकर डॉ० राधाकृष्णन, एस० एन० दास गुप्ता, एम० हिरिमन्ना, डॉ० एन० के० देवराज, चक्रधर शर्मा, पारसनाथ द्विवेदी, ने सार्वभौमिक और त्रिकालिक सत्तावान महापुरुष मानकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। इनमे से कतिपय मनीषियो के विचार प्रस्तुत है।

डॉ० राधाकृष्णन की मान्यता है कि "पार्श्वनाथ ईसा से ७७६ वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए थे" एस० एन० दास गुप्ता ने भारतीय दर्शन के इतिहास मे लिखा है कि "भगवान महावीर के पूर्ववर्ती पार्श्व, जो अतिम से पहले तीर्थकर थे, महावीर से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए कहे जाते है। उत्तराध्ययन सूत्र से सूचित होता है कि पार्श्व सम्भवत एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे।" एम० हिरियन्ना ने पार्श्वनाथ के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रगट करते हुए कहा है कि "इनमे से पार्श्वनाथ को, जो वर्धमान से पहले हुए थे और जिन्हे आठवी शताब्दी ई० पू० का माना जाता है, एक ऐतिहासिक पुरुष माना जा सकता है। इस बात के प्रमाण है कि उनके अनुयायी वर्धमान के समकालीन थे।" चक्रधर शर्मा के विचार है कि "तेइसवे तीर्थकर पारसनाथ नि सन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति थे जो आठवी या नौवी शती ई० पू० हुए थे।" पारसनाथ द्विवेदी ने भारतीय दर्शन मे लिखा है कि "तेईसवे तीर्थकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे। इनका जन्म महावीर से लगभग २४० वर्ष पूर्व ईसवी सन् के आठ सौ वर्ष पूर्व वाराणसी के राजा अश्वपति के यहॉ हुआ था। ३० वर्ष की अवस्था मे राजसी वैभव का परित्याग कर सन्यास ले लिया और घोर तपस्या की। ७० वर्ष तक जैन धर्म का प्रचार किया। चार महाव्रत, अहिसा, सत्य, अनस्तेय और अपरिग्रह पर विशेष जोर दिया।"

आधुनिक भारतीय दर्शनिको के उपर्युक्त उद्‌गारो से सिद्ध है कि भगवान पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष है। इनके ऐतिहासिक महापुरुष मानने का कारण यह है कि हमारे शास्त्रो में भगवान पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती तीर्थकरो की तरह इनके जन्मादि का कल्पनातीत सख्या मे वर्णन नही किया गया है। आचार्य यतिवृषम, गुणभद्र प्रभृति ने बुद्धिग्राहय सख्या मे पार्श्वनाथ के सबध मे कथन किया है। जैसे यतिवृषभ ने कहा है कि भगवान नेमिनाथ के जन्म के ८४ हजार ६४० वर्ष बीतने के पश्चात् भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था, और पार्श्वनाथ के उत्पन्न होने के २७८ वर्ष बीतने के बाद भगवान महावीर का जन्म हुआ था एव इनकी आयु २०० वर्ष की थी ये १ हाथ प्रमाण शरीर वाले थे।

भारतीय विद्वानो की तरह पाश्चात्य मनीषियो ने भी भगवान पार्श्वनाथ को महापुरुष मानकर उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध की है। इस सम्बन्ध मे प्रो० प्रफुल्ल कुमार मोदी का कथन है कि "पार्श्वनाथ के जीवन की इन्ही घटनाओ को सामने रखकर विद्वानो ने पार्श्वनाथ के सबध मे अन्वेषण कार्य किया है। जिसके फलस्वरूप अब यह निश्चित है कि पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। यह सिद्ध करने का श्रेय जेकोबी को है। उन्होने एस० बी० इ० के ४५ वे ग्रन्थ की भूमिका के ३१ से ३४वे पृष्ठो पर इस सबध मे कुछ सबल प्रमाण दिये है, जिनके कारण इस सबध मे अब किसी विद्वान को शका नही रह गई है। डॉ० जेकोबी के अतिरिक्त अन्य विद्वानो ने भी इस विषय मे खोजबीन की है और अपना मत प्रस्तुत किया है। इन विद्वानो मे से प्रमुख है कौलबुक, स्टीवेन्सन, एडवर्ड टामस, डॉ० बेलवेकर, दास गुप्ता, डॉ० राधाकृष्णन, शार्पेन्टियर, गेरीनोट, मजुमदार, ईलियट तथा पुसिन।"

इस प्रकार इतिहास प्रसिद्ध और विराट व्यक्तित्व के महार्णव भगवान पार्श्वनाथ की जीवनगाथा विभिन्न कालो मे विभिन्न भाषाओ मे रच कर मनीषी चिन्तको ने अपनी श्रद्धा प्रकट की है। पार्श्वनाथ के जीवन से आकर्षित होकर अपभ्रश भाषा मे विक्रम की दशवी शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक पुराण, काव्य, स्तोत्र आदि लिखे जाते रहे। इनके लेखको मे से आचार्य पुष्पदन्त, देवदत्त, सागरदत्त, आ० पद्मकीर्ति, विवुध श्रीधर देवचन्द्र, रइधु, असवाल, तेजपाल और सागरदत्तसूरि के नाम उल्लेखनीय है। पार्श्वनाथ के सबध मे इनकी कृतियो मे महत्वपूर्ण तथ्यो का उल्लेख किया गया जिससे उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। इसलिए उक्त ग्रथकारो के ग्रन्थो का सक्षिप्त आलोडन करना आवश्यक है।

१. आचार्य पुष्पदन्त कृत महापुराण :

वि. सं १०वीं शताब्दी के आचार्य पुष्पदन्त ने १०२ संधियों मे अपभ्रंश भाषा में महापुराण की रचना की। इसकी १३ और १४वी सधि में भगवान पार्श्वनाथ के विगत और वर्तमान भवो का वर्णन किया गया है। यह वर्णन गुणसेन आचार्य के उत्तर पुराण के आधार पर किया हुआ प्रतीत होता है। अत इसकी कथावस्तु परम्परागत है।

इसकी १३वी संधि में बतलाया गया है कि पोदनपुर के राजा अरविन्द के मंत्री विश्वभूति की पत्नी के गर्भ से कमठ और मरुभूति नामक दो पुत्र हुए थे। अपने छोटे भाई मरुभूति की पत्नी वसुन्धरी के साथ गुप्त संबंध स्थापित करने के कारण मरुभूति द्वारा शिकायत किया जाने पर राजा ने कमठ का सिर मुड़वा कर और गधे पर चढ़ाकर नगर मे घुमवा कर अपने राज्य से निर्वासित करने का दंड दिया था। कमठ ने वन मे जाकर शैवधर्म के अनुयायियो से दीक्षा ले ली। मरुभूति को अपने बड़े भाई के निर्वासन का दु ख हुआ। राजा के मना करने पर भी अपने बड़े भाई से क्षमा मागने और घर वापिस लाने के लिए मरुभूति कमठ के पास गया। कमठ ने क्रोधित होकर उसके सिर पर चट्टान से आघात कर उसे मार डाला मरुभूति मर कर वज्रघोष हाथी हुआ। कमठ कालान्तर मे मर कर वही कुक्कुट नामक सर्प हुआ। इस पहले भव मे घटी घटना के कारण कमठ मरुभूति के प्रति बैर-बंध कर दस भवो तक कमठ के जीव ने कुक्कुट सर्प, अजगर, कुरग भील, सिह, महिपाल और ज्योतिष देव के रूप में मरुभूति के जीव हाथी, रश्मिवेग मुनि, वज्रनाभि मुनि, और पार्श्वनाथ पर क्रूरता पूर्वक घात और उपसर्ग किया इसलिए सहस्रार, अच्युत, मध्यग्रैवेयक और प्राणत स्वर्गो मे उत्पन्न होकर स्वर्गो के सुखों को भोगते हुए वे तीर्थकर हुए और अन्त मे उन्होने निर्वाण प्राप्त किया। उक्त भवो का वर्णन पुष्पदन्त ने १४वीं सधि में किया है।

पुष्पदन्त ने उक्त कथा के प्रसग में पार्श्वनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और निर्वाण सम्बन्धी महत्वपूर्ण तिथियो का उल्लेख किया जिनकी चर्चा यथास्थान की जायेगी।

२. देवदत्त कृत पासणाह चरिउ :

डॉ० देवेन्द्र कुमार ने अपने ग्रन्थ "अपभ्रश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियो मे उल्लेख किया है अपभ्रश भाषा के ख्याति प्राप्त देवदत्त ने "पासणाह चरिउ" नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जो अब अनुपलब्ध है। जबूस्वामि चरिउ

से ज्ञात होता है कि देवदत्त "वीर कवि" के पिता और लावर्ड गोत्री थे। इन्होंने "वरंगचरिउ" का उद्धार किया था। लेकिन जंबूस्वामि चरिउ में "पासणाह चरिउ" का उल्लेख नही है, इससे सिद्ध होता है कि वीर कवि के पिता देवदत्त ने पासणाह चरिउ की रचना नहीं की। यदि उन्होंने "पासणाह चरिउ" की रचना की होती तो उसका भी उल्लेख अवश्य हुआ होता। इससे सिद्ध है कि "पासणाह चरिउ" के प्रणेता "वंरगचरिउ" के उद्धारक देवदत्त से भिन्न हैं।

३. सागरदत्तसूरि कृत पास पुराण :

वि०स० १०७६ में सागरदत्त सूरि ने ग्यारह सधियों में पास पुराण की रचना की थी, जो अद्यतन अनुपलब्ध है।

४. आचार्य पद्मकीर्तिकृत पासणाह चरिउ :

वि. स १९३४ (शक स. १९१) मे पद्म कीर्ति ने "पासणाह चरित्र" नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनके संबंध में केवल इतना ही ज्ञात है कि ये एक मुनि थे और इनके गुरु का नाम जिणसेण (जिनसेन) था। डॉ० प्रफुल्ल कुमार मोदी ने इन्हे सप्रमाण दक्षिण का माना है।

पद्मकीर्ति ने अपने इस कृति मे भगवान पार्श्वनाथ के चरित्र का वर्णन विविध घटनाओ सहित १८ सन्धियों, ३२० कड़वकों और ३३२३ से कुछ अधिक पक्तियो में किया, ऐसा उन्होंने स्वय उल्लेख किया है। पहली सधि से सातवी सन्धि तक भगवान पार्श्वनाथ और कमठ के विगत भवो का वर्णन के पश्चात् पार्श्वनाथ के वर्तमान भव का विशद विवेचन, शेष सन्धियों मे किया गया है। आठवी सधि में पद्मकीर्ति ने लिखा है कि वैजयन्त स्वर्ग से च्युत होकर कनकप्रभदेव वाराणसी के राजा की रानी वामा के गर्भ से अवतरित हुआ। नौवीं सधि मे १६ वर्ष की आयु तक की गई भगवान पार्श्वनाथ की बाल क्रीड़ाओं का उल्लेख किया गया है। जब पार्श्व को मालुम हुआ उनके मामा रविकीर्ति के सहायतार्थ पवनराज से युद्ध करने के लिए उनके पिता जा रहे है तो उन्हें रोक कर पार्श्वनाथ पिताश्री से आदेश लेकर युद्ध करने चल पड़ते है। भयंकर युद्ध कर पार्श्वनाथ पवनराज को बन्दी बना लेते है। इसका वर्णन पद्मकीर्ति ने ११वी और १२ वी सधि मे विस्तार से किया, जो इनके पूर्ववर्ती किसी आचार्य के पार्श्व सबधी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। तेरहवी सधि मे रविकीर्ति के द्वारा रखे गये इस प्रस्ताव को पार्श्वनाथ स्वीकार कर लेते है कि प्रभावती नामक राजकुमारी के साथ वे विवाह करा लेगे। इसके पश्चात् तापसो द्वारा जलाये जाने वाली लकड़ी

मे से अधजले सर्प को पार्श्वनाथ द्वारा मत्र सुनाने, मत्र के प्रभाव से मरे उस नाग को पाताल में वन्दीवर देव होने, सर्प की मृत्यु के दृश्य को देखकर पार्श्व को वैराग्य होने और जिन दीक्षा लेने आदि का वर्णन किया गया है।

भगवान पार्श्वनाथ द्वारा तप, सयम और ध्यान करने, कमठ के जीव असुरेन्द्र द्वारा उनपर भयकर उपसर्ग करने, धरणेन्द्र द्वारा उन उपसर्गो को दूर करने, पार्श्वनाथ को केवलज्ञान उत्पन्न होने आदि का वर्णन इस ग्रन्थ की १४वी सधि मे हुआ है। १४वी सधि मे इन्द्र द्वारा समवशरण की रचना करने, हस्तिनापुर के राजा स्वयभू का जिन दीक्षा लेकर प्रथम गणधर होने, स्वयभू की राजकुमारी प्रभावती (जो पूर्व भव के मरुभूति) की वसुन्धरी नामक पत्नी थी) द्वारा आर्यिका दीक्षा लेकर सघ की प्रधान आर्यिका होने आदि का उल्लेख हुआ है। शेष सधिओ मे भगवान पार्श्वनाथ के विहार, उपदेश आदि का वर्णन विस्तार से किया गया है।

५. विबुध श्रीधर कृत पासणाह चरिउ :

विक्रम की १२वी शताब्दी मे उत्पन्न विबुध श्रीधर (प्रथम) ने अपभ्रश भाषा मे वि०स० ११८९ मे अगहन माह के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को दिल्ली मे "पासणाह चरिउ" की रचना की थी, ऐसा उन्होने अपने 'वड्ढमाणचरिउ' और 'पासणाह चरिउ' मे उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ २४०० गाथा प्रमाण है, जो १२ सधियो और २३८ कड़वको मे समाप्त हुआ है। बुध गोल्ह ओर वील्हा देवी के पुत्र तथा 'पासणाह चरिउ' के अलावा वड्ढमाण चरिउ और 'चदप्पह चरिउ' के सृजक कवि विबुध श्रीधर ने इस गन्थ की रचना परम्परा से प्राप्त पार्श्वनाथ के कथानक के आधार पर की है। इसमे भ० पार्श्व के वर्तमान भव का वर्णन प्रारम्भ मे और विगत भवो को वर्णन अतिम सधियो मे किया गया है। विबुध श्रीधर का यह ग्रन्थ आजतक अप्रकाशित है। इस ग्रन्थ की दो हस्तलिखित पाण्डुलिपियॉ निम्नाकित ग्रन्थ भडारो मे सुरक्षित है –

१ आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर

२ अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।

६. देवचन्द्र कृत पासणाह चरिउ :

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार कवि देवचन्द्र वि० स० १२वी शताब्दी के कवि, मूल सघ गच्छ के विद्वान् और वासवचन्द्र के शिष्य थे। गुदिज्ज नगर के पार्श्वनाथ मन्दिर मे रचित महाकाव्य मे भगवान पार्श्वनाथ के वर्तमान और पूर्व भवो को ११ सन्धियो और २०२ कडवको म विभाजित किया है।

यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। वि०स० १५४९ मे लिखित इस ग्रन्थ की एक प्रति प० परमानन्द शास्त्री के निजी सग्रह मे और वि०स० १५२० मे लिखित एक प्रति 'पासपुराण' के नाम से सरस्वती भवन नागौर मे सुरक्षित है।

७. महाकवि रइधु कृत पासणाह चरिउ :

प्रो० डॉ० राजाराम जैन के अनुसार हरिसिह और विजय श्री के तीसरे पुत्र तथा वि०स० १४५७ से १५३६ के महाकवि और गोपाचल (ग्वालियर) को अपने जन्म से पवित्र करने वाले रइधु ने ३७ ग्रन्थो की रचना की थी। इन्होने अपभ्रश भाषा मे "पासणाह चरिउ" नामक ग्रन्थ भी रचा। सात सधियो और १३८ कड़वको वाले इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे भगवान पार्श्वनाथ के वर्तमान भव का और अन्त मे पूर्व भवो का वर्णन उत्तरपुराण के आधार पर किया है।

प्रथम सधि मे वाराणसी के राजा अश्व और रानी वामा देवी के वैभव का वर्णन करने के पश्चात् दूसरी सधि मे भगवान पार्श्वनाथ के गर्भ और जन्म कल्याणक का विवेचन करते हुए कहा गया है कि बैशाख कृष्ण द्वितिया को भ० पार्श्वनाथ वामा देवी के गर्भ मे अवतरित हुए थे और पौष कृष्ण एकादशी के शुभ नक्षत्र मे उनका जन्म हुआ था। इन्द्र ने इनका नाम पार्श्वनाथ रखा था। इसके पश्चात् बतलाया गया हे कि भगवान पार्श्वनाथ ने ३० वर्ष तक बाल क्रीड़ाये की। तीसरी सधि मे कुशस्थल के राजा अर्ककीर्ति के प्रस्ताव को पार्श्व द्वारा पवनराजा से जीते गये युद्ध, प्रभावती के साथ विवाह कराने सबधी अर्ककीर्ति के प्रस्ताव को पार्श्व द्वारा स्वीकार किये जाने, तापसो द्वारा जलाये जाने वाले वृक्ष के कोटर के मध्य से निकले अधजले सर्पयुगल को उनके द्वारा मत्र दिये जाने, उनकी मृत्यु से पार्श्वनाथ को वैराग्य होने का वर्णन किया गया है। इस प्रसग मे अनुप्रेक्षाओ का जैसा विशद् वर्णन किया गया है वैसा इनके पूर्ववर्ती किसी "पासणाहचरिउ" मे उपलब्ध नही है। चौथी सधि मे प्रमुख रुप से पार्श्वनाथ द्वारा ली गई जिन दीक्षा, सवर देव द्वारा किये गये घोर उपसर्गो को धरणेन्द्र और पद्मावती द्वारा दूर करने, चैत्र माह के कृष्णा पक्ष की चतुर्थी और शुभ नक्षत्र मे भ० पार्श्वनाथ को केवल ज्ञान प्राप्त होने सवरदेव द्वारा क्षमा मागने आदि का वर्णन किया गया है। शेष सधियो मे पार्श्वनाथ के विहार, उपदेश, पूर्व भवान्तरो सम्मेद शिखर पर श्रावण् शुक्ला सप्तमी को निर्वाण होने का विवेचन उपलब्ध है।

८. कवि असवाल कृत पासणाह चरिउ :

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने ऊहापोह द्वारा इनका समय वि० की १४वी शताब्दी सुनिश्चित किया है। गोलाराड वंश में लक्ष्मण के पुत्र के रुप में उत्पन्न बुध असवाल ने लोणसाहु के अनुरोध से अपने ज्येष्ठ भाई सोणिक के लिए अपभ्रंश भाषा में भ० पार्श्वनाथ के विगत और वर्तमान भव सबंधी घटनाओं को काव्य के रुप मे निबद्ध किया था। बुध असवाल ने अपने "पासणाह चरित्र" को १३ सधियो मे विभक्त किया है। इसकी कथावस्तु परम्परागत है। यह ग्रन्थ अद्यतन अप्रकाशित है। डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री के उल्लेखानुसार इस ग्रन्थ की १४० पत्रो वाली अपूर्ण पाण्डुलिपि की एक प्रति श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा मे विद्यमान है।

९. तेजपाल कृत पासपुराण :

वि० सं० १४०६ से १४१६ के मध्य जन्म लेने वाले और ताल्हडम साहु के पुत्र कवि तेजपाल ने संभवणाह चरिउ औ वरांग चरिउ के अलावा पासणाह पुराण की रचना की थी। यह एक खण्डकाव्य है, जिसकी रचना पद्धड़िया छन्द मे हुई है। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इस संबंध मे विशेष परिचय दिया है। यह ग्रन्थ आज तक अप्रकाशित है। डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री के अनुसार इसकी एक प्रति आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर और एक प्रति बड़े घड़े का दि० जैन मन्दिर, अजमेर मे सुरक्षित है।

१०. पासजिण जंमकलसु :

इसके रचयिता अज्ञात है। इस अप्रकाशित ग्रन्थ की ३४०–३४१ पत्र वाली पाडुलिपि खेतरवसी भण्डार, पाटन में उपलब्ध है।

११. पार्श्वनाथ भवान्तर :

जयकीर्ति द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

१२. सागरदत्त सूरि कृत पासपुराण :

सागरदत्त सूरि के पासणाह ग्रन्थ का उल्लेख डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने किया है। न तो यह रचना उपलब्ध है और न रचनाकार के संबध में कोई जानकारी प्राप्त है।

उपलब्ध पासणाहचरिउ के आधार पर उन महत्वपूर्ण घटनाओ का विवेचन करना आवश्यक है जो उन्हे एक ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध करती है।

भगवान पार्श्वनाथ और कमठ के पूर्व भव :

भगवान पार्श्वनाथ और कमठ के दस भवो का वर्णन पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति और रइधु ने विस्तार से किया है। उनके पूर्व भवो मे उनके नामो के सबध मे उनमे मतैक्य भी है। पहले भव मे पार्श्वनाथ के जीव को विश्वभूति और कमठ के जीव को कमठ कह कर अपभ्रश के उक्त महाकवियो ने उत्तरपुराण का अनुकरण किया है। दूसरे भव मे पार्श्वनाथ के जीव को पुष्पदन्त ने वज्रघोष हस्ति, आ० पद्मकीर्ति ने अशनिघोष हस्ति तथा रइधु ने पविघोष करि और इस भव मे कमठ के जीव को एक स्वर से उन्होने कुक्कुट सर्प होने का उल्लेख किया है। तीसरे भव मे पार्श्वनाथ के जीव को सहस्त्रार कल्प का देव ओर कमठ को धूमप्रभ नरक का जीव लिखकर आचार्य गुणभद्र का पुष्पदन्त आदि ने अनुकरण किया। केवल पद्मकीर्ति ने कमठ के जीव को नरक गया लिखा है, नरक का नाम नही दिया। चौथे भव मे भगवान पार्श्वनाथ के जीव को पुष्पदन्त ने विद्युतवेग और तडिन्माला का पुत्र रश्मिवेग, पद्मकीर्ति ने विद्युतगति और मदनावली का पुत्र किरणवेग एव रइधु न अशनिगति और तडितवेग का पुत्र अशनिवेग और कमठ के जीव को सभी ने अजगर होना लिखा है। पाचवे भव मे पुष्पदन्त आदि ने पार्श्व के जीव को अच्युत कल्प का इन्द्र और कमठ के जीव को पुष्पदन्त ने तमप्रभ नरक मे, पद्मकीर्ति ने रौद्र नरक मे और रइधु ने पचम नरक मे जन्म लेने का उल्लेख किया। छठे भव मे पार्श्वनाथ पुष्पदन्त के अनुसार वज्रवीर्य राजा और विजया रानी के वज्रबाहु चक्रवर्ती पुत्र थे। पद्मकीर्ति ने वज्रवीर्य और लक्ष्मीमति तथा 'रइधु ने वज्रवीर्य और विजया का पुत्र वज्रनाभ होना बतलाया है। कमठ के इस भव के जीव का नाम पुष्पदन्तानुसार भील कुरगक और शेष कवियो के अनुसार शबर कुरशक था। सातवे भव मे पार्श्वनाथ के जीव को पुष्पदन्त ने मध्यम ग्रैवेयक का एव पद्मकीर्ति तथा रइधु ने ग्रैवेयक का देव कहा है। पुष्पदन्त और पद्मकीर्ति ने इस भव मे कमठ के जीव को नरक जाने का उल्लेख किया जबकि रइधु ने अन्तिम नरक मे जाना माना है। आठवे भव मे पार्श्व को पुष्पदन्त ने गुणभद्र की तरह वज्रबाहु ओर प्रभकरी का पुत्र आनन्द मण्डलेश्वर, पद्मकीर्ति ने कनकप्रभ चक्रवर्ती और रइधु ने आनन्द चक्रवर्ती कहा है। इस भव मे कमठ के जीव को सिह होना लिखा है। पुष्पदन्त इसके अपवाद है। नौवे भव मे पार्श्वनाथ को पुष्पदन्त ने प्राणत कल्प का, पद्मकीर्ति ने वैजयत का और रइधु ने चौदहवे कल्प का देव कहा है जबकि कमठ के जीव को नरक गामी, पद्मकीर्ति ने रौद्र नरक और रइधु ने धूमप्रभ नरक गामी बतलाया है। दसवे भव मे

कमठ को पुष्पदन्त ने महिपाल नामक राजा और पार्श्व का नाना कहा है। पद्मकीर्ति ने उसे तापस और रइधु ने कमठ कहा है।

पार्श्व के माता–पिता :

भगवान पार्श्वनाथ के माता–पिता के नाम के संबंध में आचार्यो मे मतैक्य नही है। महाकवि पुष्पदन्त ने गुणभद्र की तरह पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्राह्मी लिखा है। आ० पद्मकीर्ति ने उनके पिता का नाम हयसेन कहकर आ० यतिवृषभ का अनुकरण किया है।, किन्तु रइधु ने उनके पिता का नाम अश्वसेन लिखा है। उनकी माता को पद्मकीर्ति और रइधु ने न तो पुष्पदन्त की तरह ब्राह्मी और न यतिवृषभ की तरह वर्मिला नाम दिया। इन दोनो ने उनका नाम वामादेवी लिखा है।

पार्श्व की जन्म भूमि :

पुष्पदन्त आदि सभी आचार्यो ने पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी मानी है। जैन धर्म की दोनो परम्पराएँ आज भी भेलूपुर, वाराणसी को उनकी जन्मभूमि मानती है।

पार्श्व की जन्मतिथि :

भगवान पार्श्वनाथ की जन्मतिथि के सबध मे आचार्यो मे मतभेद नही है। आचार्य पद्मकीर्ति ने यद्यपि तिथि का उल्लेख नही किया, किन्तु आ० गुणभद्र की तरह माना है कि भ० नेमिनाथ के ८३७५० वर्षो बाद शुभ नक्षत्र योग मे पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। उल्लेखनीय है कि यतिवृषभ ने ८४६५० वर्ष का अन्तराल भ० नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के मध्य माना है। आ० पुष्पदन्त और रइधु ने यतिवृषभ और गुणभद्र का अनुकरण करते हुए पौष कृष्ण एकादशी को शुभ नक्षत्र मे प्रात काल भ० पार्श्व का जन्म होना माना है। किन्तु यतिवृषभ की तरह विशाखा नक्षत्र मे उनके जन्म होने का किसी भी पासणाहचरिउ मे उल्लेख नही हुआ है।

पार्श्व का वंश और गोत्र :

आ० पद्मकीर्ति और रइधु को छोड़कर आ० पुष्पदन्त ने भगवान पार्श्व को उग्रवशी कहकर गुणभद्र और यतिवृषभ का अनुकरण किया है।, किन्तु उन्होने उत्तरपुराण की तरह पार्श्वनाथ के पिता को काश्यप गोत्री होने का उल्लेख नही किया।

पार्श्व का नामकरण :

अपभ्रंश भाषा के सभी आचार्यो ने आ० गुणभद्र की तरह निर्देश किया है कि भ० पार्श्वनाथ का नामकरण इन्द्र ने अभिषेक के बाद किया था। किसी ने ऐसा

नहीं कहा कि जब वे अपने माता के गर्भ मे थे तब उनकी माता ने पार्श्व अर्थात् बगल मे काला सर्प देखा था, इसलिए उनका नाम पार्श्व या पार्श्वनाथ हुआ।

विवाह कराने का प्रस्ताव :

आ० पद्मकीर्ति ओर रइधु ने पार्श्वनाथ और पद्मराज के मध्य घमासान युद्ध होने का विस्तार से वर्णन करने के बाद उल्लेख किया है कि जब उनके मामा रविकीर्ति (अर्ककीर्ति) ने अपनी बेटी प्रभावती के साथ विवाह करने का उनके समक्ष प्रस्ताव रखा तो पार्श्वनाथ ने उसे स्वीकार कर लिया।, किन्तु उनके विवाह होने का किसी भी पासणाहचरिउ मे उल्लेख नही हुआ है। इसलिए मजुमदार का यह कथन सत्य नही है कि पार्श्वनाथ का विवाह हुआ था।

वैराग्य का कारण :

भ० पार्श्वनाथ के वैराग्य होने के कारणो का उल्लेख सभी "पासणाहचरिउ" साहित्य मे उपलब्ध है। आ० पुष्पदन्त ने इसका कारण आचार्य गुणसेन की तरह जातिस्मरण माना है। जब कि आ० पद्मकीर्ति और रइधु ने लकड़ी मे मध्य से निकले अर्धजले सर्प की मृत्यु के दृश्य को उनके वैराग्य का कारण माना है।

दीक्षा :

भ० पार्श्वनाथ की दीक्षा कब और कहॉ हुई? यह भी प्रकृत मे विचारणीय है। आचार्य पुष्पदन्त ने तिलोयपण्णत्ति और उत्तरपुराण का अनुकरण करते हुए लिखा है कि विमला नामक पालकी पर बैठ कर अश्वत्थ वन मे पौष शुक्ला एकादशी को पूर्वाह्न मे तीन सौ राजाओ के साथ भ० पार्श्वनाथ ने जिन दीक्षा ग्रहण की थी। आ० यतिवृषभ के अनुसार यह दीक्षा विशाखा नक्षत्र मे हुई थी। पुष्पदन्त और गुणभद्र मे अन्तर यह है कि गुणभद्र ने पौष कृष्णा एकादशी को प्रात काल दीक्षित होने का उल्लेख किया है। आ० पद्मकीर्ति ने उनकी दीक्षा तिथि, पालकी, दीक्षित वन का उल्लेख नही किया। केवल आठ उपवास का निश्चय कर जिन दीक्षा लेना लिखा है। महाकवि रइधु ने कहा है कि पौष शुक्ला दशमी को भ० पार्श्वनाथ ने दीक्षा ग्रहण की थी। पालकी का नामोल्लेख रइधु ने भी नही किया।, किन्तु एक ऐसे यान का उल्लेख किया जो सूर्य के रथ के समान था। उसी पर बैठ कर पार्श्वनाथ ने अहिच्छत्र नगर के वन मे जाकर दीक्षा ली थी।

प्रथम पारणा :

भ० पार्श्वनाथ की प्रथम पारणा कब–कहॉ हुई और किसको इस पारणा करने का सौभाग्य मिला? यह भी चिन्तनीय है। इस सबध मे "पासणाहचरिउ"

के प्रणेताओ मे एकरूपता नही है। आ० पुष्पदन्त ने आचार्य गुणभद्र का अनुकरण करते हुए मत प्रकट किया है कि भ० पार्श्वनाथ को प्रथम पारणा अष्टोपवास के बाद गुल्मखेट के राजा ब्रह्म के यहाँ हुई थी। पुष्पदन्त ने राजा के नाम का उल्लेख नही किया जब कि उत्तरपुराण मे राजा का नाम श्याम वर्णवाला धन्य लिखा है। पद्मकीर्ति और रइधु इस बात से तो सहमत है कि उनकी प्रथम पारणा गजपुर के राजा वरदत्त के यहाँ अष्टोपवास के बाद हुई थी। केवल यतिवृषभ ने ही अष्टोपवास के बाद प्रथम पारणा का उल्लेख किया है।

उपसर्ग निवारण :

जब दीक्षा ले कर पार्श्वनाथ घोर तप कर रहे थे, उसी समय कमठ के जीव ने जो उनके जन्म जन्मान्तरो का बैरी था, सात दिनो तक भयानक उपसर्ग कर उन्हे जान से मारने का प्रयास किया। इसका वर्णन पुष्पदन्त आदि सभी अपभ्रश के महाकवियो ने किया है। यहाँ प्रश्न यह है कि उपसर्ग करने वाला देव कौन था? जिस तापस ने नाग के जोड़े को मरणासन्न कर दिया था उसने अभिमान पूर्वक अनशन तप कर और जीव हिसा तथा परिग्रह का त्याग कर देव योनि प्राप्त की थी। पुष्पदन्त और रइधु ने उस देव का नाम सवर बतला कर आचार्य गुणभद्र कर अनुकरण किया है, किन्तु पद्मकीर्ति ने उसे मेघमल्ल (मेघमाली) और कमठ कहा है।

उस सवर देव या मेघमाली देव कृत भयकर उपसर्गो का निवारण कैसे हुआ? इस सबध मे पुष्दन्त ने आचार्य गुणभद्र का अनुकरण करते हुए कहा है कि पूर्वजन्म मे मंत्र सुनाने से उपकृत हुए धरणेन्द्र और पद्मावती पृथ्वी से बाहर आये। धरणेन्द्र ने भगवान पार्श्वनाथ को चारो ओर से घेर कर अपनी गोदी मे उठा लिया। पद्मावती वज्रमय छत्र तान वहाँ खड़ी हो गई। इस प्रकार उस भयानक महावृष्टि रूप उपसर्ग उन्होने विनष्ट किया। पद्मकीर्ति ने उपसर्ग निवारण की चर्चा करते हुए पुष्पदन्त का अनुकरण किया है। रइधु के उक्त कथन मे कुछ अतर है। उन्होने लिखा है कि फणीश्वर और पद्मावती प्रदक्षिणा दे स्तुति आदि करने के पश्चात् उपसर्ग दूर करने वाला कमलासन बनाया और उस पर पारसनाथ को विराजमान कर उसे अपने मस्तक पर रख कर उनके ऊपर होने वाले उपसर्गो को दूर किया।

केवलज्ञान की प्राप्ति :

भगवान पार्श्वनाथ को कब और कहाँ केवलज्ञान की प्राप्ति हुई? इस सबध मे उक्त आचार्यो मे मतैक्य नही है। आचार्य यतिवृषभ और गुणभद्र का अनुकरण

करते हुए पुष्पदन्त और रइधु ने चैत्रमाह के कृष्ण पक्ष मे उन्हे केवलज्ञान होने का उल्लेख किया है। किन्तु उक्त ज्ञान प्रकट होने की तिथि पुष्पदन्त ने प्रतिपदा, रइधु ने यतिवृषभ की तरह चतुर्थी और गुणभद्र ने चतुर्दशी लिखी है। आ० पद्मकीर्ति इस सबध मे मौन है। रइधु को छोड़ कर पुष्पदन्त ने यतिवृषभ और गुणभद्र की तरह माना है कि उन्हे यह ज्ञान विशाखा नक्षत्र मे प्राप्त हुआ था। किन्तु किसी भी पासणाहचरिउ ेा न तो यतिवृषभ की तरह उक्त ज्ञान पूर्वाह्न में होने का निर्देश है और न गुणभद्र की तरह प्रात काल मे होने का निर्देश है। यह केवलज्ञान पार्श्वनाथ को दीक्षा–वन मे होने का उल्लेख पुष्पदन्त ने किया है। पद्मकीर्ति ने भीमाटवी वन मे और यतिवृषभ ने शक्रपुर मे उक्त ज्ञान प्राप्त होने का उल्लेख किया है।

छद्मावस्था :

यहाँ यह भी विचार कर लेना आवश्यक है कि कितने समय तक तप करने के पश्चात् भ० पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। पद्मकीर्ति और रइधु इस सम्बन्ध मे चुप है। आ० पुष्पदन्त ने यतिवृषभ और गुणभद्र की तरह उल्लेख किया है कि चार माह तक तप करने के पश्चात् उन्हे केवलज्ञान मिला था।

कमठ का भयभीत होना और पार्श्व की शरण में जाना :

जब कमठ को ज्ञात हुआ कि भ० पार्श्वनाथ को केवलज्ञान मिल गया है तो उसके मन मे भयमिश्रित चिन्ता हुई। पद्मकीर्ति और रइधु ने कहा है कि जब कमठासुर की इन्द्र के वज्र से कही भी रक्षा न हुई तो वह भगवान पार्श्वनाथ के शरण मे गया। उन्हे प्रणाम कर वह भयमुक्त हो गया। उसने क्षमा–याचना करते हुए अनेक प्रकार से अपनी गर्हा की और हर्षित मन से सम्यक्त्व ग्रहण कर समस्त पाप–दोषो से मुक्त हो गया। उसका कुमति ज्ञान भी नष्ट हो गया।

श्रमण–संघ :

भगवान पार्श्वनाथ का सघ विशाल होने का उल्लेख हुआ है। सर्वप्रथम हस्तिनापुर के राजा स्वयभू दीक्षा ले कर प्रथम गणधर बने और उसकी पुत्री प्रभावती (मरुभूति की वसुन्धरी पत्नी) जिन दीक्षा लेकर आर्यिका सघ की प्रधान आर्यिका हुई। यद्यपि इस सम्बन्ध मे यतिवृषभ और गुणभद्र से मतभिन्नता प्रकट है। क्योकि यतिवृषभ सुलोका को और गुणभद्र ने सुलोचना को प्रधान आर्यिका माना है। उनके चतुर्विध सघ मे श्रमण, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओ की सख्या निम्नाकित है –

		पुष्पदन्त	रइधु	तिलोपण्णति	उत्तरपुराण
१	गणधर	१०	१०	४/९६३	१०
२	पूर्वमाता	३५०	४००	३५०	३५०
३	मुनि	१६०००	१८००	१६०००	१६००० मोक्षगामी
४	शिक्षक	१०९५०	—	१०९००	१०९५०
५.	अवधिज्ञानी	१४००	१५००	१४००	१४००
६	केवलज्ञानी	१०००	१५००	१०००	१०००
७	विक्रियाधारी	१०००	१५००	१०००	१०००
८	मन पर्ययज्ञानी	७५०	९००	७५० (विपुलमती)	७५०
९	वादी	६००	—	६००	६००
१०	श्रुतज्ञानी	—	८००	—	—
११	आर्यिका	३६०००	३८०००	३६००	३६०००
१२	श्रावक	एक लाख	एक लाख	एक लाख	एक लाख
१३	श्राविकाऐ	तीन लाख	तीन लाख सत्ताईस हजार	तीन लाख	तीन लाख
१४	स्त्रीमुक्ति स्थान वाली	—	१९००	—	—
१५	देव–देवियॉ	सख्यातीत	असख्यात	—	असख्यात
१६	तिर्यञ्च	सख्यात	अप्रमाण	—	सख्यात

धर्मोपदेश और विहार :

पुष्पदन्त के अनुसार ७० वर्षो तक किन्तु आ० गुणभद्रनुसार ५ माह कम ७० वर्षो तक विहार करते हुए भगवान पार्श्वनाथ ने धर्मोपदेश देकर जीवो का कल्याण किया था।

निर्वाण :

पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति और रइधु ने प्राचीन परम्परा का अनुकरण करते हुए माना है कि भगवान पार्श्वनाथ सघ को ज्ञान प्रदान करते हुए जब उनकी आयु मात्र एक माह शेष रह गई थी ३६ मुनियो के साथ सम्मेद शिखर पर प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये और वही पर १०० वर्ष की आयु मे उक्त मुनियो के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। पद्मकीर्ति के अलावा पुष्पदन्त और रइधु ने तिलोयपण्णत्ति और उत्तपुराण की तरह अपने ग्रन्थो मे निर्वाण प्राप्त करने की तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी और विशाखा नक्षत्र का निर्देश किया है। अन्तर केवल इतना है कि तिलोयपण्णत्ति मे उन्हे प्रदोषकाल मे और उत्तर पुराण मे

प्रात काल मे मोक्ष होने का उल्लेख उपलब्ध है, जबकि अन्य आलोच्य ग्रन्थो मे उक्त काल का कथन नही हुआ है। जनसामान्य आज भी विहार मे स्थित भगवान पार्श्वनाथ के निर्वाण स्थल सम्मेद शिखर को पारसनाथ हिल के नाम से जानते है। भगवान पार्श्वनाथ का तीर्थ १५० वर्षो और यतिवृषभ के अनुसार १७८ वर्षो तक प्रवर्तित रहा।

उपर्युक्त गहन विवेचन से निम्नांकित बिन्दु प्रकट होते है·

१ भगवान पार्श्वनाथ के जीवन मे घटित महत्वपूर्ण घटनाएँ उन्हे ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध करने में स्वत. प्रमाण है।

२ भगवान पार्श्वनाथ के जीवन मे उत्तरोत्तर आत्म विकास की परम्परा उपलब्ध है। इसके विपरीत कमठ का जीवन अशुभ क्रियाजन्म उत्तरोत्तर पतन का प्रतीक है। अत सम्यक्त्व और आत्मालोचन ही आत्मोत्थान का साधन है।

३ विक्रम सवत् १०वी शताब्दी से १६वी शताब्दी तक के जैन आचार्यो को भगवान पार्श्वनाथ का आकर्षित व्यक्तित्व बहुत भाया। यही कारण है कि अपभ्रश भाषा मे भगवान पार्श्वनाथ विषयक स्वतत्र महाकाव्यो और खण्डकाव्यो की रचना कर आचार्यो ने उनके प्रति अपनी गाढ श्रद्धा प्रकट की है। इन्हे भगवान पार्श्वनाथ के प्रति अर्चना और प्रेमसमर्पण के प्रतीक कहा जा सकता है।

४ पार्श्व विषयक उपर्युक्त साहित्य के तुलनात्मक आलोडन से ज्ञान होता है कि अपभ्रश भाषा मे निबद्ध पार्श्व विषयक साहित्य का आधार आचार्य यतिवृषभ कृत तिलोयपण्णत्ति और आचार्य गुणभद्र रचित उत्तरपुराण रहा। इनमे आगत घटनाओ को सकोच और विस्तार पूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

५ अपभ्रश भाषा मे सृजित ग्रन्थो का सर्वेक्षण से जिन बारह ग्रन्थो का उल्लेख हुआ, उनमे से तीन महाकाव्य प्रकाशित, छह अप्रकाशित और तीन अनुपलब्ध है।

६ ये ग्रन्थ प्राचीन भारतीय सस्कृति, भूगोल और इतिहास की धरोहर हैं।

७ उपर्युक्त विषयक ग्रन्थो की विभिन्न भण्डारो मे विद्यामन पाण्डुलिपियो को पश्यतोहरा चूहो, दीमक आदि द्वारा हजम कर जाने का भय है, इसलिए अनुपलब्ध और अप्रकाशित उपर्युक्त ग्रन्थो की पाण्डुलिपियो को खोजने और प्रकाशित कराने का सार्थक प्रयास किया जाना चाहिये।

प्राकृत शोध–संस्थान, वैशाली

जिनवाणी में काट–छांट : समाज धोखे में

–पं. नाथूलाल जैन शास्त्री

समाज के अधिकाश बन्धु वीतराग देव, शास्त्र और दिगम्बर गुरुओ के श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन जिन मदिर मे दर्शन एव यथाशक्ति अभिषेक, पूजा तथा स्वाध्याय कर अपने मानव जीवन को सफल करना चाहते है। समाज मे आज हमारे दिगम्बर गुरु और विद्वान भी विद्यमान है जिनसे हमे मार्गदर्शन मिलता है और मुक्ति के मार्ग रत्नत्रय का ज्ञान प्राप्त करने मे सहयोग मिलता है।

परन्तु दु ख इस विषय का है कि समाज मे वर्तमान राजनैतिक क्षेत्र के वातावरण के समान ही कुछ बधु अपनी दुकानदारी चलाने और नेतृत्व की भूख को शात करने के लिए समाज मे भ्राति और अशाति उत्पन्न करने की चेष्टा करते रहते है। ऐसे लोग हमारी सस्कृति, प्राचीन आर्ष परम्परा और आचार्यो के शास्त्रो को बदलकर नया पथ चलाने का तेजी से आदोलन कर रहे है। समाज मे अपने आगम विरुद्ध मन्तव्य के प्रचार–प्रसार हेतु वे नया प्रकाशन, शिविर और पूजा प्रतिष्ठा द्वारा जनता को आकर्षित कर उनकी श्रद्धाओ को विचलित कर अपना स्वार्थ पोषण कर रहे है। वे हमे प्रशसा का मीठा जहर देते हुए एव मिलकर मारने का तरीका अपनाने मे जरा भी सकोच नही करते।

कतिपय मुमुक्षुओ के सबध मे समाज को भलीभाति विदित है कि उनके द्वारा कितनी अशाति और विवाद उत्पन्न हुआ जो आज भी उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है उसमे विशेषकर हमारे प्राचीन आचार्यो के शास्त्रो और वर्तमान दिगम्बर गुरुओ के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करने की चेष्टा की जा रही है।

कुछ उदाहरण समाज की जानकारी हेतु प्रस्तुत है –

१. श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत "अष्टपाहुड" ग्रथ के एक भाग "मोक्षपाहुड" की गाथा २५ इस प्रकार है।

वर वयतवेति सग्गो, मा दुक्खं होइ णिरइ इयरेहि।
छाया तवंड्डियाणं पडिवालताण गुरुभेय।।२५।।

अर्थ:—श्री पडित टोहरमलजी द्वारा लिखी गई हिन्दी टीका का भाव यह है कि—व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग का प्राप्त होना अच्छा है परन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दु:ख प्राप्त होना अच्छा नहीं है।

छाया और घाम मे बैठकर इष्ट स्थान की प्रतीक्षा करने वालों में बड़ा भेद है। यही बात आचार्य पूज्यपाद ने भी 'इष्टोपदेश' में लिखी है। परन्तु 'दिगम्बर जैन लश्करी मंदिर गोराकुण्ड इंदौर' द्वारा प्रकाशित "पाप पुण्य और धर्म" नाम की अपनी पुस्तक मे मुमुक्षु प्रवक्ता श्री पण्डित रमेशचन्दजी शास्त्री बांझल ने उक्त गाथा को बदलकर उसमे से 'मा' शब्द निकाल दिया है और विपरीत अर्थ लिखकर पाठकों की श्रद्धा को विचलित कर दिया। लेखक ने लिखा है कि जैसे पथिक को गंतव्य स्थान तक पहुँचने मे छाया और आतप दोनो ही समान हैं। वैसे ही मोक्ष मार्ग में पुण्य और पाप और पुण्य को समान ही बताते रहते है। आचार्यों के अभिप्राय के वे विरोधी हैं। जिन पूजा के व्रत आदि पर वे श्रद्धा नहीं रखते। व्रती व दिगम्बर मुनिराजों मे उनकी आस्था नही है। इन्दौर में वर्षा योग कर रही पूज्य आर्यिका माताश्री आदर्शमती (ससघ) के साथ यहॉ मल्हारगज में ऐसा ही व्यवहार हुआ जिसे उन्हें अपने प्रवचन मे समालोचना करनी पड़ी।

२. दूसरी पुस्तक अभी २३ नवम्बर ९७ को 'स्वाध्याय मण्डल रामाशाह दि जैन मन्दिर मल्हारगंज, इदौर" द्वारा प्रकाशित ५००० प्रति उक्त प्रवचनकार श्री रमेशचदजी शास्त्री बांझल ने लिखी है और विमोचन कराई है, उसका नाम "जिनेन्द्र पूजन एक अनुचितन" पृष्ठ १४४ जिसमे उक्त "पाप पुण्य और धर्म" के २३ पृष्ठ सम्मिलित है। उसका "प्राक्कथन लिखकर सावधान किया था कि इस पुस्तक के विरोध में मैने जो लिखा है या तो सुधार कर देवें या मेरे द्वारा लिखा प्राक्कथन पूर्ण छपवा देवे। खेद है कि मेरे "प्राक्कथन" मे से प्राय. सभी अंश निकालकर मेरे विचारो के विरुद्ध मेरे नाम से ही अपना मन्तव्य जोड़ दिया। इसे मायाचार कहना अनुचित नही होगा। जैसे प्रथम पृष्ठ पर मैने लिखा था कि मूर्ति की शुद्धि याने सफाई बताकर मेरे अभिषेक पाठ के प्रमाण को प्राक्कथन मे से निकाल दिया। मेरे पास मेरे लेख की फोटो कॉपी है। क्या धार्मिक लोग मूर्ति की शुद्धि हेतु अभिषेक करते है? ऐसी शुद्धि (सफाई) तो पुजारी भी कर देवें। इससे हमारी आस्था को कितना आघात पहुॅचा है, विचारणीय है। उक्त प्रथम पुस्तक के उस बदले हुए अश को भी हमे श्री ब्र० अशोक जी दशमप्रतिमाधारी परम पूज्य आचार्य शिरोमणि विद्यासागरजी सघस्थ ने बताया था।

कुछ दिन पूर्व श्री नीरजजी सतना ने सावली हिम्मतनगर मुमुक्षु मडल द्वारा प्राचीन प्रतिमाओ की प्रशास्ति मिटाकर अपनी नई प्रशास्ति अकित कर देने की घटना को समाज के समक्ष रखा था, उसका उचित समाधान यह हो गया कि मुमुक्षुगण और उनके प्रतिष्ठाचार्यजी की अज्ञानतावश यह कार्य हुआ। एक शिलापट्ट पर पुरानी प्रशस्ति पृथक् लगा देना निश्चित हुआ, परन्तु इस विषय मे मेरा निवेदन है कि मैने उन प्रतिमाओ पर नई प्रशस्ति लिखने का विरोध कर दिया था फिर भी प्रशस्ति लिखी गई। ये लोग क्षमा मागकर अपनी इच्छानुसार काम कर लेते है। यह उनकी विजय का तरीका है जिस प्रकार हम उक्त पुस्तको का विरोध कर रहे है, जो क्षणिक है जबकि उनका कार्य स्थाई रहने वाला है।

३. इस पुस्तक मे पृष्ठ ७९ पर लिखा है कि "प्रतिमा पर जलक्षेपण न करे'। अनादिकाल से जो कृत्रिम अकृत्रिम प्रतिमाओ के अभिषेक का उल्लेख शास्त्रो मे आता है, उन सब पर यह लिखकर लेखक ने पानी फेर दिया। अभिषेक का उद्देश्य नही समझा।

४. लेखक लिखते है कि "अभिषेक मूर्ति पूजा का अग नही है" जबकि 'विद्वज्जन–बोधक (तेरापथ शुद्ध आम्नाय ग्रथ) के पृष्ठ ३०५ पर पूजा का अग माना है। 'अभिषेक गर्म जल से करना चाहिए' यह भी उचित नही है। 'विद्वज्जन–बोधक' पृष्ठ ३०५ पर "मुहूर्त गालित तोय प्रासुकम्" ठडा छना जल एक मुहूर्त तक अभिषेक हेतु प्रासुक है। यह प्राचीन शास्त्र को प्रमाण दिया गया है। बाद मे फिर छन सकता है।

५. पूजा का विसर्जन अंग नही मानना भी उचित नही, जबकि पूजा के पाच अगो मे पृष्ठ ३०७ पर विद्वज्जनबोधक मे विसर्जन को पूजा का अनिवार्य अग मानते है। इसमे पूजा विधि का प्रारभ करने के बाद समाप्ति हेतु विसर्जन माना गया है।

६. लेखक सोलह कारण पूजा को कर्म के आश्रव का कारण मानकर निषेध करते है, कितु "विद्वज्जन–बोधक" पृष्ठ ३१४ पर सोलह कारण पूजा रत्नत्रय के समान जिन धर्म के अतर्गत करना उचित बताया है।

७. पूजा के प्रचलित आठ द्रव्य चढ़ाने के क्रम को पूजाओ मे जल आदि आठ द्रव्य को ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अतराय, वेदनीय, नाम, गोत्र, आयु कर्म विनाश हेतु बताकर बदल दिया है, जो अपनी स्वय की कल्पना है। यह पथक् न लिखकर पूजाओ मे जोड़ देना बहुत बड़ा अनर्थ और पूजको मे भ्रम

पेदा करने वाला है। अनेक पूजाओ मे अतरायनाश हेतु फल बताया है जबकि लेखक आयुकर्मनाश हेतु बताते है। ऐसीं त्रुटि सभी जगह है।

८. इस पुस्तक मे "परामात्मा पूजा" एक नई पुजा रची गई है, जबकि हमारे यहा "अरहत सिद्ध" की पूजा की जाती है ये मुमुक्षु लोग कारण परमात्मा (शक्ति रूप मे सर्व जीव मे परमात्मत्व स्वरूप) की पूजा करना उचित मानते है। जिससे समस्त जीवो की पूजा करना उचित मानते है। जिससे समस्त जीवों की पूजा हो जाती है। यह आगम विरुद्ध है।

९. भगवान पार्श्वनाथजी व बाहुबली स्वामी की प्रतिमा को क्रमश फणामडल मडित और बेल युक्त प्रतिष्ठा शास्त्र मे भी माना है, परन्तु ये उनका निषेध करते है। केवल ज्ञानावस्था मे उन्हे फण व बेल नही थी, परन्तु उनकी मूर्ति मे तो हमेशा से पाई जाती है।

१०. नवग्रह मे जबकि चौबीस तीर्थकर की पूजा है। उसे वे नवदेवता की पूजा मानते है, जो अनुचित है।

११. लेखक अपनी पुस्तक के पृष्ठ २७ मे लिखते है कि चेतन मे स्थापना निक्षेप नही होता कितु श्लोक वार्तिक (आचार्य विद्यानंद कृत) की टीका द्वितीय अध्याय पृष्ठ २६४ पर लिखा है कि इन्द्र, लोकातिक आदि की स्थापना रागी द्वेषी साधारण जनो मे की जा सकती है, कितु पचपरमेष्ठी की नहीं, इसलिए बिब प्रतिष्ठा मे इन्द्र आदि की मत्रो से स्थापना की जाती है। उपमा मे मत्र से स्थापना सिद्ध नही होती जैसा कि आप मानते हैं।

१२. भारत मे जहॉ जिन मदिर है सर्वत्र चौकी पर चढ़ाने योग्य द्रव्य और पाटे पर चढ़ाया गया द्रव्य रहता है। लेखक लिखते है "चौकी मदिर से हटा देना चाहिए। दो पाटे पर दोनो द्रव्य बराबरी से रखना चाहिए क्योकि निर्माल्य पवित्र द्रव्य है। इसलिए उसे नीचे पाटे पर नही रखना चाहिए"। निर्माल्य का मतलब है अग्राह्य द्रव्य जो चढ़ाया गया है उसे पुन ग्रहण नही करे। इस हेतु वह अलग दिखाया जाता है। बराबरी मे तो सदेह हो जाएगा कि कौन–सा द्रव्य चढ़ाने योग्य है, कौन–सा चढ़ा हुआ। हमारी पद्धति कोई गलत नही है जिसे आप व्यर्थ गलत बताते है। आप चढ़े द्रव्य को सोना और चढ़ाने योग्य को लोहा बताते है। आप निर्माल्य द्रव्य का अर्थ नही जानते। श्रीधरसेनाचार्य ने मुक्तावली कोश मे निर्माल्य का अर्थ भोगी हुई (काम मे आई हुई) वस्तु किया है, जो अग्राह्य है। आप इसका पवित्र अर्थ कर लोगो को भ्रम मे डाल रहे हैं।

१३. "गधोदक ललाट में लगाना चाहिए नेत्र आदि मे नही" यह भी आपका उपदेश ठीक नहीं अभिषेक पाठ में ही "नेत्र ललाटटयोश्च" वाक्य दिया है, जिसका अर्थ है नेत्र और ललाट मे गंधोदक लगावें। नेत्र में गंधोदक लगाना आप महापाप बताते है। परमात्मने के स्थान में परमात्माय लिखते हैं।

१४. ह्रीं, संवोषट् निर्वपामीति, अभिषेक, भावपूजा, श्रावक, अर्घ, मंदिर आदि के अर्थ ठीक नहीं हैं। निर्वपामि में भिकोअम् लिखने से यह ज्ञात होता है कि लेखक को संस्कृत व्याकरण का प्रवेशिका ज्ञान तक नही है। पूजा में पू धातु बताते हैं।

१५. बड़े-कलश से अभिषेक का निषेध करने से बाहुवली आदि की बड़ी प्रतिमा का अभिषेक कैसे होगा? विचारणीय है। पुस्तक मे प्रतिमा पर जलक्षेपण करने का निषेध दो बार किया है।

१६. इस पुस्तक के पृष्ठ ६९ पर प्रतिमा की वीतराग छवि को देशनालब्धि माना सो यह कहाँ है? प्रमाण देना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि आदि में तो सम्यक्दर्शन की उत्पत्ति में साधन के अतर्गत प्रतिमा दर्शन और धर्म-श्रवण पृथक्-पृथक् बताये हैं।

१७. ये लोग दीपक जलाना और धूपदान, जिन्हे शांतिजप, विवाह, गृह प्रवेश आदि में सर्वत्र निषेध करते है। हवने (शातियज्ञ) भी पीले चावल में धूप का सकल्प कर स्थडल (आठ ईट) मे यज्ञ करने की नई प्रथा निकाल ली है क्या यह सकल्पी हिसा नही है? दीपक व धूपदान का उल्लेख तो पूजा मे "विद्वज्जनबोधक" पृष्ठ ३५७-३६० मे भी है। श्री जयसेनायार्य के प्रतिष्ठा पाठ, आदिपुराण आदि मे अग्नि से हवन बताया है। तेरह पथ शुद्धाम्नाय के शास्त्रो को भी नहीं मानते।

१८. सिद्धचक्र विधान मे ये लोग आठ दिन मे प्रारभ के चार दिनों मे सात पूजा कर लेते हैं और आठवी पूजा अतिम चार दिनों मे करते है। जबकि उस विधान मे आठवी पूजा को एक ही माना है। १०२४ अर्घ को चार हिस्सों में करना अधूरी पूजा है, इसे समझना चाहिये।

१९. मदिरो मे से आचार्य शातिसागरजी आदि की फोटो अभी भी हटा देते हैं। यह कदम अनुचित है। मुझसे कुछ बधु आकर पूछते है कि क्या आचार्य शातिसागरजी दि मुनि नही थे? उनकी फोटो मदिर से क्यो निकाली गयी?

२०. इसी प्रकार हमारे यहाँ के मदिर मे एक भाई वेदी में प्रतिमा का अभिषेक न कर केवल गीले वस्त्र से प्रोक्षण कर देता था और वह दूसरे को अभिषेक नहीं करने देता था। वहीं पर उनका साथी एक ही स्थान की पचीसों पुस्तकें व अखबार लाकर अलमारी मे जमा देता था। ज्ञान न होने पर भी उसने एक बड़ी मडली एकत्रित कर ली और मदिर मे चर्चा के माध्यम से हल्ला होने लगा जिससे अन्य बन्धुओं को अशांति का अनुभव होने लगा। ऐसी प्रवृत्ति जब मदिर में होने लगे तब क्या किया जाए?

समाज में तेरह पंथ और बीसपथ दोनों के मदिर अलग–अलग है, पूजा पद्धति भी अलग–अलग है। जहां ऐसा होता है उसमें विरोध कोई नहीं करता परन्तु इन दोनों के सिवाय तीसरे पंथ का गुप्त रूप से निर्माण कर अशाति या विवाद उत्पन्न किया जाए तो विरोध होना स्वाभाविक है। मुस्लिम राजाओ के आक्रमण मे एक विशेषता यह थी कि वे गायों को सेना के आगे खड़ी कर देते थे और हिन्दू राजाओ से युद्ध करते थे। उसी प्रकार हमारे आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रथो को प्रकाशित कर उनकी टीका व प्रवचनो मे अपना मन्तव्य जोड़ देने पर अन्य बधुओ को क्षोभ होना स्वाभाविक है। आचार्य के नाम पर कुछ भी करना उनका अविनय कहलायेगा इसलिए शात रहना पड़ता है। इसी प्रकार मदिरो मे प्रवचन एवं शिविर के मध्यम से अपना प्रचार किया जाता है। इस पर समाज के प्रत्येक परिवार में मतभेद बढ़ रहा है जो मनभेद का कारण है। ऐसी स्थिति मे जो समाज मे एकता चाहते है उन्हें सफलता किस प्रकार मिलेगी? विचारणीय है। उक्त पुस्तको के सबंध में जो कुछ मैंने लिखा है, उसमें मुझे विरोधी मानना उचित नहीं। मैं बावन वर्ष से मुमुक्षु बंधुओ के संपर्क में हूँ और आज भी आपको प्रतिष्ठा संबधी परामर्श देता रहता हूँ।

आपने इन पुस्तको के प्राक्कथनों को अपने मन्तव्य के अनुसार तोड़मरोड़ कर बदल दिया और मुझे छपी पुस्तक पहले नहीं बताई तथा मुझे समर्थक बता दिया, यह मेरे साथ छलकपट करके मुझे समाज के सामने हमेशा के लिए बदनाम कर दिया, इसलिये यह लिखने को मजबूर होना पड़ा है।

–मोतीमहल, सर हुकमचंद मार्ग, इन्दौर

श्रुत, समय पाहुड़ और नय

–ले० जस्टिस एम०एल० जैन

तत्त्वार्थ सूत्र का एक सूत्र है– श्रुत मति पूर्व द्वयनेक द्वादश भेदम् १/२ (श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है, उसके दो, अनेक और बारह भेद है)

इसकी सर्वार्थ सिद्धि टीकां मे पूज्यपाद लिखते है कि श्रुतज्ञान के ये भेद वक्ता विशेष कृत है और वक्ता तीन प्रकार के है– १ केवली, २ श्रुतकेवली और ३. आरातीय। केवली ने आगम का अर्थरूप से उपदेश दिया, गणधर है श्रुत केवली जिनने अर्थ रूप आगम का स्मरण कर अग और पूर्व ग्रथो की रचना की तथा आरातीय आचार्यो ने अपने शिष्यो के उपकार के लिए दशवैकालिक आदि ग्रथ रचे।

इस श्रुतज्ञान के दो भेद ये है, अग बाह्य और अग प्रविष्ठ। अग बाह्य के दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद है तथा अग प्रविष्ठ के अधोलिखित बारह भेद है–

१ आचार २ सूत्रकृत ३ स्थान ४ समवाय ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति ६ जातृ धर्म कथा ७ उपासकाध्ययन ८ अन्तकृद्दश ९ अनुत्तरो पपादिक दश १० प्रश्न व्याकरण ११ विपाक सूत्र और १२ दृष्टिवाद।

इनमे से दृष्टिवाद के पाच भेद है–

१ परिकर्म सूत्र २ प्रथमानुयोग ३ पूर्वगत और ४ चूलिका।

इसी दृष्टिवाद के चौरह भेद भी है–

१ उत्पादपूर्व २ अग्रायणीय ३ वीर्यानुवाद ४ अस्तिनास्ति प्रवाद ५ ज्ञान प्रवाद ६ सत्यप्रवाद ७ आत्मप्रवाद ८ कर्म प्रवाद ९ प्रत्याख्यान १० विद्यानुवाद ११ कल्याण नामधेय १२ प्राणावाय १३ क्रिया विशाल और १४ लोक बिन्दुसार।

इस समस्त श्रुत के अक्षरो का प्रमाण है–

१८४४, ६७, ४४०, ७, ३७०९५५, १६१५ अर्थात् एक लाख चौरासी हजार चार सौ सड़सठ कोड़ा कोड़ी चबालीस लाख सात हजार तीन सौ सत्तर करोड़ पचानवे लाख इक्यावन हजार छह सौ पन्द्रह।

यह बात श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनो शाखाओ को मान्य है कि चौदह ही पूर्वो के अतिम ज्ञाता थे भद्रबाहु किन्तु दिगम्बर परम्परा मे यह माना जाता है। कि वीर निर्वाण सम्वत् ६८३ के पश्चात् पूर्व ज्ञान व अग ज्ञान की आशिक रूप से धारण करने वाले मुनि धरसेन हुए जिन्हे अग्रायणीय पूर्व के पाचवे वस्तु का महाप्रकृति नाम के चौथे प्राभृत का ज्ञान था। उनके बाद पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यो ने अग्रायणीय पूर्व के आशिक आधार पर षद् खण्डागम की रचना की। आचार्य गुणधर ने जिनको ज्ञान प्रवाद के दशम वस्तु के तीसरे प्राभृत का ज्ञान था कषाय पाहुड़ की रचना की, आचार्य भूतबलि ने महाबन्ध की रचना की। पूज्यपाद (६-७ वी सदी) ने न तो षट् खण्डागम का ही जिक्र किया और न कषाय पाहुड़ का ही। इस बात का भी कोई जिक्र नही किया कि बाकी आगम का क्या हुआ। इससे यह नतीजा निकलता है कि ५-७ शताब्दी ई० तक ये आगम उपलब्ध थे और इसके बाद विच्छिन्न हुए है। खैर हमारे पास अब रह गए है दृष्टिवाद अग के अग्रायणीय और ज्ञानप्रवाद नामक पूर्वो के भी केवल कुछ अश। अग्रायणीय पूर्व मे आते है सात तत्त्वो और नौ पदार्थों के वर्णन तथा ज्ञान प्रवाद मे शामिल है पॉचो ज्ञानो का वर्णन।

इसके विपरीत श्वेताम्बर शाखा मे पूज्यपाद के बताए हुए नाम के आगम वर्तमान है यद्यपि वीर नि० स० ५८४ मे आर्यवज्र स्थविर के देहावसान के साथ ही दशम पूर्व या विद्यानुवाद पूर्व विच्छिन्न हो गया। बाकी आगम ग्रथ लगभग ४५, चार-चार वाचनाओ मे काफी छानबीन के बाद सर्व सम्मति से वीर नि० स० ८४३ मे वल्लभी (सौराष्ट्र) मे स्थिर किए गए। कुछ दिगम्बर विद्वानो का मत है कि मौजूदा श्वेताम्बर आगम बहुचर्चित बारह साला दुर्भिक्ष के बाद श्वेताम्बर साधुओ द्वारा निर्मित किए हुए है परन्तु यह प्रश्न तो फिर भी उचित समाधान का मुहताज है कि दिगम्बर परम्परा के शेष आगम विच्छिन्न क्यो होने दिए गए और समय रहते समस्त श्रुत को लिपिबद्ध क्यो नही किया गया।

हरिवश पुराण के सर्ग २ व १० मे श्रुतज्ञान के अन्य बीस भेद भी इस तरह बताए गए है-

१. पर्याय २ पर्याय समास ३ अक्षर ४ अक्षर समास ५. पद ६ पद समास ७. संघात ८ सघात समास ९. प्रतिपत्ति १०. प्रतिपत्ति समास ११. अनुयोग १२. अनुयोग समास १३, प्राभृत प्राभृत १४ प्राभृत प्राभृत समास १५. प्राभृत १६. प्राभृत समास १७ वास्तु १८. वास्तु समास १९ पूर्व २०. पूर्व समास।

श्रुतज्ञान के अनेक विकल्पो में एक विकल्प एक ह्रस्व अक्षर रूप भी है। इसके अनन्तानन्त भाग किए जाए तो उसमे एक भाग पर्याय नाम का श्रुत ज्ञान होता है। यह पर्याय ज्ञान सब जीवो के होता है, इस पर कभी आवरण नही पड़ता। जब यही पर्याय ज्ञान के अनन्तवें भाग के साथ मिल जाता है तो वह पर्याय समास कहलाता है। इसके बाद अक्षर ज्ञान प्रारम्भ होता है। उसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर अक्षर समास ज्ञान होता है। अक्षर समास के बाद पद ज्ञान होता है। इसके बाद एक अक्षर की वृद्धि करके पद समास होता है। पद समास में एक अक्षर की वृद्धि से सघात होता है। संघात मे एक अक्षर की वृद्धि से होता है सघात समास में एक अक्षर की वृद्धि से प्रतिपत्ति होता है उसमे एक अक्षर जोड़ने पर प्रतिपत्ति समास होता है उसमे एक अक्षर की वृद्धि करने पर अनुयोग बनता है। अनुयोग में एक अक्षर रूप ज्ञान की वृद्धि से बनता है अनुयोग समास। अनुयोग समास ज्ञान मे एक अक्षर रूप श्रुत ज्ञान की वृद्धि होने से होता है प्राभृत प्राभृत। प्राभृत प्राभृत मे एक अक्षर रूप श्रुतज्ञान बढ़ने से होता है प्राभृत प्राभृत समास। प्राभृत प्राभृत समास मे एक अक्षर रूप श्रुतज्ञान बढ़ने पर होता है प्राभृत श्रुतज्ञान। यह है प्राभृत का असली मतलब। प्राभृत के जो अन्य अर्थ लगाये जाते हैं उसका कारण है शब्द प्राभृत का अनेकार्थी होना। प्राभृत में एक अक्षर की वृद्धि से होता है प्राभृत समास। उसमें एक अक्षर जोड़ने पर होता है वास्तु। उसमें एक अक्षर जोड़ने पर होता है वास्तु समास उसमे एक अक्षर जोड़ने पर बनता है पूर्व और उसमें भी एक अक्षर की वृद्धि होने पर होता है पूर्व समास। पद समास से लेकर पूर्व समास पर्यन्त समस्त द्वाद्वशांग श्रुत स्थित है। पूर्व में होते हैं कई वस्तु अधिकार में होते हैं बीस–बीस प्राभृत।

जयचंद जी ने समय प्राभृत की वचनिका में लिखा है कि 'चौदह पूर्वों में ज्ञान प्रवाद नामक छठा (पूज्यपाद के अनुसार पाचवां) पूर्व है तामें बारह वस्तु अधिकार हैं तिनि में एक एक वस्तु में बीस बीस प्राभृत अधिकार हैं तिनि मे दशमावस्तु मे समय नामा प्राभृत के मूल सूत्रनिका शब्दनिका ज्ञान तो पहले बड़े

आचार्यनि को था अर तिस के अर्थ का ज्ञान आचार्यानि की परिपाटी के अनुसार श्री कुन्दकुन्द आचार्य को भी था, सो तिनि ने यह समय प्राभृत के सूत्र बाधे हैं। 'यह समय जो सर्व पदार्थ जीव नाम पदार्थ है ताका प्रकाशक है।'

दृष्टिवाद के भेद सूत्रो मे अनेक भेद है, उनमे से एक भेद का नाम है पर समय अर्थात् जैनेतर दर्शनों का निरूपण। इस दृष्टि से समय का अर्थ होता है द्वाद्वशाग वाणी याने जैन दर्शन।

कुन्दकुन्द ने स्वय अपने ग्रथ का नाम समय पाहुड़ ही दिया था और पञ्चास्तिकाय तथा प्रवचनसार कृतियो के नामो मे प्राभृत (पाहुड़) शब्द नही जोड़ा। जहा उनको अभीष्ट था वहा स्वय उनने अपनी रचना के नाम में सार शब्द भी जोड़ा है, यथा पवयण सार, मूलाचार के दसवे अध्याय का नाम समयसार।

समय पाहुड़ अपर नाम समयसार से बहुधा जाना जाने लगा इसकी वजह एक चलन मात्र है जैसे चारित्रलब्धि का नाम लब्धिसार और गोम्मट सगह सुत्त का नाम चल पड़ा गोम्मट सार। उमा स्वाति के सूत्रो के भी तो तीन नाम हैं तत्त्वार्थाधिगम, तत्त्वार्थसूत्र और मोक्ष शास्त्र और अपनी टीका तत्त्वार्थ वृत्ति को स्वय पूज्यपाद ने अमृत सार होना बताया है। आरातीय शास्त्रो के नाम परिवर्तन के इस रिवाज मे मूल आगम मे बदलाव लाने की कोई प्रवृत्ति नही रही है। दरअसल मतलब तो अर्थ श्रुत से है। विषय वस्तु व नाम को सरलता से सूक्ष्म रूप मे समझने के लिए अपर नाम, उपनाम दिए जाते ही रहे है, और यही तो है व्यवहार नय जो आशिक सत्य से पूर्ण सत्य की ओर ले जाता है। कुन्द कुन्द कहते है कि –

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ
भूदत्थमस्सिदो सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।

यहा पर टीकाकारो ने ववहारो भूदत्थो के स्थान पर पढ़ा है ववहारोऽभूदत्थो, तो भी अमृतचन्द्र ने अभूदत्थो का अर्थ असत्यार्थ नही किया। उनने तो व्यवहार को कीचड़ मिले जल से और निश्चय को कीचड़ रहित जल से उपमा दी है। चूकि प्राकृत व्याकरण के अनुसार पदान्त में ओ के बाद अ का पूर्वरूप करने का कोई स्वर संधि सूत्र नही है और प्राकृत मे अ के विलीन होने का कोई निशान ऽ सर्वत्र नही देखा जाता, इसलिए कुछ मनीषी मानते हैं कि मूलपाठ मे अभूदत्थो नही था न हो ही सकता था, कुछ प्रतियो मे यह निशान है भी नहीं। कुन्दकुन्द ने तो व्यवहार और निश्चय दोनो को भूतार्थ माना है। बाद मे टीकाकारो ने भूतार्थ का अर्थ सत्यार्थ किया और अभूतार्थ का असत्यार्थ।

इस विचार का प्राकृत व्याकरण के अलावा एक कारण और भी है। दृष्टिवाद के सत्यप्रवाद नामक पूर्व के दस भेद है – नाम सत्य, रूप सत्य, प्रतीत सत्य, सवृति सत्य, सयोजना सत्य, जनपद सत्य, देश सत्य, भाव सत्य और समय सत्य। द्रव्य और पर्याय के भेदो की यथार्थता बतलाने वाला तथा आगम के अर्थ को पोषण करने वाला वचन समयसत्य कहा जाता है। इस दृष्टि से व्यवहार भी सत्यार्थ ही है। प्रत्येक नय अशग्राही ही होता है। निश्चय नय सामान्य कहा जाता है। इस दृष्टि से व्यवहार भी सत्यार्थ ही है। प्रत्येक नय अंशग्राही ही होता है। निश्चय नय सामान्य अश (गुण) को ग्रहण करता है, व्यवहार नय विशेष अश (पर्याय) को ग्रहण करता है। दोनो अशो के जानने के लिए निश्चय और व्यवहार दोनों ही समान रूप से प्रयोजन वान है, अत एक द्रव्य के आश्रय से व्यवहार नय का जितना भी विषय है वह सबका सब याथर्थ ही है।

जो व्यवहार को असत्यार्थ कहते है वे उसे पूर्ण असत्य नही कहते। दि० आचार्य ज्ञान सागर की भाति श्वे० आचार्य महाप्रज्ञ भी अभूतार्थ का अर्थ ईषत् (आशिक) सत्य करते है। आचार्य जयसेन ने समय पाहुड़ की गाथा (२५२) की तात्पर्य वृत्ति मे लिखा है कि सुवर्ण और सुवर्ण–पाषाण के समान निश्चय और व्यवहार मे साध्य–साधक भाव है। अमृतचन्द्र भी व्यवहार नय को हस्तावलम्ब कहते है। अन्यत्र भी कहा गया है। जेइ जिण समई पउजह तामा ववहार णिच्चय मुचह। एक्केण विणा दिज्जइ तित्थ अण्णेव उण तच्च अर्थात् यदि जिन समय (जैन सिद्धान्त) जानना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो मे से किसी एक को मत छोड़ो (क्योकि) एक के बिना तीर्थ (तीर्थकरो का उपदेश, छूट जाता है और दूसरे के बिना तत्त्व (आत्मा) का स्वरूप दरअसल आत्मतत्त्व का ज्ञान व अनुभूति हो जाना ही मजिल है और मजिल पर पहुच जाने पर रास्तो (नयो) की जरूरत नही रहती यही है नय–निरपेक्ष अवस्था। वही है समयसार, पक्खातिक्कतो पुण भवदि जो सो समयसारो, जो पक्षातिक्रात कहलाता है वही समयसार है।

जयचद जी ने इसको यो कहा है –

'जो पहिली अवस्था मे यह व्यवहार नय उपरि चढ़ने कू पैडी रूप है, ताते कथचिद् कार्यकारी है, इसकू गौण करने ते ऐसा मत जानियो जो आचार्य व्यवहार को सर्वथा ही छुड़ावे है। आचार्य तो उपरि चढ़ने कू नीचली पैडी छुड़ावै है, अर जब अपना स्वरूप की प्राप्ति हो गयी तब तो शुद्ध अशुद्ध दोऊ ही नय का आलम्बन छूटेगा।'

इसको यो समझने की कोशिश करे। सौ फीसदी शुद्ध याने २४ केरट खरा सोना ही सुवर्ण है किन्तु मिलावट वाला खोटा सोना याने अशुद्ध स्वर्ण भी सोना ही तो कहलाता है। इसी अशुद्ध स्वर्ण को तपा कर शुद्ध सुवर्ण बनाया जाता है। अत पूर्ण शुद्ध और नितान्त अशुद्ध अवस्थाओ को क्या नाम दिए जाए? उनको अध्यात्म की दृष्टि से अशुद्ध ही कहा जाएगा। यो है अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ, जैसा कि जयसेन ने किया है। इसका मतलब यह नही है कि व्यवहार नय कतई मिथ्या है या झूठा है। कहा भी है–

तत्त्वं वागतिवर्ति व्यवहृतमासाद्य जायते वाच्यम्
गुणपर्यायादिविवृत्तः प्रसरति तच्चापि शतशाखम्
मुख्योपचार विवृतिं व्यवहारोपायतो यतः सन्तः
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्त्वमिति व्यवहृतिः पूज्याः

–तत्त्व, वचन से अतिवर्ति है, व्यवहृत का आश्रय लेकर वाच्य हो जाता है, गुणपर्यायादि के विस्तार से उसकी सैकड़ो शाखाए फैलती जाती है। इस तरह व्यवहार के उपाय से ही सन्त मुख्य और उपचार कथन को जानकर शुद्ध तत्त्व को अपनाते है, अत. व्यवहृति पूज्य है।

प० आशाधर व्यवहार को अभूतार्थ कहते हुए भी लिखते है–

व्यवहार पराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति
बीजादि बिना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति

जो व्यवहार से विमुख होकर निश्चय को करना चाहता है, वह मूढ़ बीज आदि (खेत, पानी) के बिना धान (सम्य) को उत्पन्न करना चाहता है। इसलिए–

भूतार्थ रज्जुवत्स्वैरं विहर्तुं वंशवन्मुहुः
श्रेयो धीरैरभूतार्थो हेय स्तद् विहृतीश्वरैः

जैसे (नट) रस्सी पर स्वेच्छा से विहार करने के लिए बार–बार बास का सहारा लेते है (और उसमे दक्ष हो जाने पर बास का सहारा छोड़ देते है) वैसे ही धीर (मुमुक्षु) के लिए अभूतार्थ श्रेय है और भूतार्थ पाने पर व्यवहार को छोड़ देते है।

जयचद जी ने अपनी वचनिका मे बड़े ही खूबसूरत तरीके से इस बात को यो समझाया है

'जिन वचन स्याद्वाद रूप है, सो जहा दोय नय कै विषय का विरोध है, जैसे सद्रूप होय सो असद्रूप न होय, एक होय सो अनेक न होय, नित्य होय सो

अनित्य न होय, भेद रूप होय सो अभेद रूप न होय, इत्यादि नयनि के विषयनि विषै विरोध हे, तहां जिन वचन विवक्षा तैं सत् असत् रूप, एक अनेक रूप, नित्य अनित्य रूप, भूद अभेद रूप, शुद्ध अशुद्ध रूप जैसे विद्यमान वस्तु है जैसे कहि करि विरोध मिटे है, झूठी कल्पना नाहीं करे है। तातैं द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोय नय में प्रयोजन वशते शुद्ध पर्यायार्थिक मुख्य करि निश्चय कहे हैं पर अशुद्ध द्रव्यार्थिक रूप पर्यायार्थिक कू गौण करि व्यवहार कहिए है ऐसे जिन वचन विषैं जो पुरूष रमे है इस आत्मा कू यथार्थ पावे हैं।'

आत्मा प्राप्ति की इस अवस्था को भाषा के द्वारा सही प्रगट करना असभव है। वह तो केवल प्रकाश है, अनन्त अनिर्वचनीय प्रकाश, शब्दातीत नयातीत। वह तो 'अखण्डितमनाकुल ज्वलदनन्तमत बहिर्मह' है, अनुभव किया जा सकता है, पूरी तरह बताया नही जा सकता। इसलिए साधारण जन के लिए जिन वचन को प्रमाण कहा गया है जिसमे अकल लगाने की न जरूरत न इजाजत। हा, जो ज्ञान नय द्वारा अर्जित किया जाए, उसमे सवाद–परिसवाद, तर्क–वितर्क व परीक्षण किया जा सकता है। नय का अर्थ ही होता है ले जाने वाला। यह नयार्जित ज्ञान चाहे निश्चय नय द्वारा ही हो व्यवहार जन्य ही होता है और कोई भी भाषा या वचन व्यवहार पूर्ण नही होता। शायद यही कारण है कि केवल ज्ञान होने पर तीर्थकर मौन हो जाते है, केवल ओम् यह दिव्यध्वनि ही प्रगट करते हैं। यह वह ध्वनि है जो सब ध्वनिया नि शेष हो जाने पर सुनाई देती है, बिना बजाया स्वर, अनाहत नाद!

इसको किसी उदाहरण द्वारा कथन करना संभव नही है और जो भी लक्षण किया जाएगा वह निषेध परक ही होगा 'एव ववहारणओ पडिसिज्जे जाण णिच्छयणएण।'

व्यवहार की भाषा या व्यवहार नय के बिना किसी भी तत्त्व का निश्चय नही किया या कराया जा सकता। जब हम यह कहते हैं कि आत्मा शरीर नहीं है, आत्मा वर्ण या स्पर्श नही है तो प्रतिषेधात्मक व्यवहार की भाषा ही बोल रहे है। जब हम यह कहते हैं कि आत्मा, शुद्ध, अमूर्त, अरूप, ज्ञायक है, ज्ञाता है तब भी हम व्यवहार का ही प्रयोग करते होते हैं। अनन्त ज्ञानवान आत्मा के न इन्द्रिया है, न वहा विचार है न शब्द न क्रिया। इसलिए निश्चय नय का व्यवहार से अतीत मानवीय मस्तिष्क के लिए कोई चिन्तन सभव नही है और कुन्दकुन्द ने शुरू मे ही कह दिया कि व्यवहार मे ही जी रहा है। व्यवहार के बिना काम कैसे

चलेगा इस सच्चाई से वे परिचित थे। व्यवहार को छोड़कर सच्चाई को पाना बिना आधार ही उड़ान है। कदाचिद् यही वजह हो कि उमास्वाति ने और पूज्यवाद ने भी निश्चय नय की नयो में गिनती नही की। निश्चय की नय के रूप में अवधारणा शायद पूज्यपाद के बाद की है।

मोक्षमार्ग (रत्नत्राय) भी व्यवहार मोक्ष मार्ग व निश्चय मोक्षमार्ग बताया गया। व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है और निश्चय मोक्ष मार्ग साध्य। व्यवहार रत्नत्राय तो अपूर्ण रहता है और १४वें गुणस्थान के अंत में जाकर संपूर्ण निश्चय रत्नत्रय होता है।

निश्चय और व्यवहार नयो की व्याख्या करते समय शास्त्रो ने नेय, नय और नेतव्य की भेद रेखाओ को ही मिटा दिया लगता है जबकि नेय (सांसारिक जीव) को नय के द्वारा नेतव्य (शुद्ध आत्मानुभाव) की ओर ले जाया जाना चाहिए। दरअसल शास्त्र कुछ नही जानते क्योकि ज्ञान और शास्त्र अलग–अलग है। कहा भी है

सत्थं णाणं न हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणाविंति।।

प्रवचन सार की टीका के अत मे ४७ की सख्या तक नय गिनाकर भी अमृतचन्द्र ने लिखा कि आत्मा एक द्रव्य है जो अनत धर्मात्मक है। वे अनत धर्म अनत नयो से जाने जाते है।

जितने वचन उतने ही नय है। यदि यह कहे कि आत्मा बंध मोक्ष अवस्था को पुद्गल के साथ धारण करता है तो यह हुआ व्यवहार नय के कथन और यदि यह कहे कि आत्मा केवल अपने ही परिणाम से बंध मोक्ष अवस्था को धारण करता है। तो यह हुआ निश्चय नय के कथन। यदि एक नय को ही सर्वथा माने तो मिथ्यावाद होता है जो कथंचिद् माना जाए तो यथार्थ अनेकता रूप सर्व वचन होता है। स्यात् पद से गार्भित नयो के स्वरूप से अनेकान्त रूप प्रमाण से अनत धर्म संयुक्त शुद्धचिन्मात्र वस्तु को जो निश्चय श्रद्धान करते हैं वे साक्षात् आत्म स्वरूप के अनुभवी होते हैं। परमात्म तत्त्व वचन से नही कहा जा सकता केवल अनुभव गम्य है। 'जो महाबुद्धिवन्त हुए है वे भी तत्त्व के कथन समुद्र के पारगामी नही हुए है और जो थोड़ा बहुत तत्त्व का कथन मैने किया है वह सब तत्त्च की अनंतता मे इस तरह समा गया है मानो कुछ कहा ही नही जैसे आग मे होम करने की वस्तु कितनी ही डालो, कुछ नही रहती।'

अत सन्मतिसूत्र मे सिद्धसेन ने भी यो लिखा कि

'अत्थगइ उण णयवाय गहण लीणा दुरभिगम्मा'

अर्थात् नयवाद एक गहन वन है जिसमे अर्थ की गति विलीन हो जाती है। सरल तरीके से समझने के लिए अन्यत्र कहा कि–

भद्दं मिच्छा दंसण समूहमइयस्स अमय सारस्स
जिणवयणस्स भगवओ संविग्न सुखाहि गम्मस्स

जिन भगवान के वचन मिथ्या दर्शन समूह मय हैं दु खो से उद्विग्न लोगो के लिए आसानी से समझ मे आ सकते हैं और अमृत के मानिन्द है।

अजीब सी है यह बात। यदि एकाश मिथ्या है तो सर्वाश भी मिथ्या ही होना चाहिए किन्तु ऐसा क्यो नही है इसके लिए समन्तभद्र पहले ही कह चुके है कि–

मिथ्या समूहो मिथ्याचेन्न
मिथ्यैकान्तताऽस्ति नः
निरपेक्षा नया मिथ्याः
सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् –(देवागम, १०८)

(हे प्रभो, हमारा मिथ्या समूह मिथ्या होते हुए भी मिथ्या एकान्तता नही है क्योकि मिथ्या होते है निरपेक्ष नय (किन्तु) आपके (नय) तो सापेक्ष है (इसलिए) द्रव्य का अर्थ समझाने मे सक्षम है।

श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र सूरि के षड्दर्शन समुच्चय की गुणरत्न सूरि द्वारा रचित टीका तत्त्वरहस्य दीपिका मे मगलाचरण की व्याख्या करते हुए बताया है कि

स्यात् कथंयित् सर्वदर्शनसंमत्त सद्‌भूत
वस्त्वंशानां मिथः सापेक्षतया वदनं स्याद्वादः
सदसन्नित्यानित्य सामान्य विशेषाभिलाप्यान
भिलाप्योभयात्मानेकान्तः [illegible]न्यर्थः
यद्यपि दर्शनानि निज निज मतभेदेन
परस्परं विरोधं भजन्ते तथापि तैरुच्यमानाः
सन्ति ते ऽपिवस्त्वंशाये मिथः सापेक्षाः
सन्तः समीचीनतामञ्चन्ति।

सभी दर्शनो द्वारा माने गए वस्तु के सद्‌भूत अशों का परस्पर सापेक्ष कथन करना स्याद्वाद है अर्थात् सत् असत् उभय रूप, नित्य अनित्य उभय रूप, सामान्य विशेष उभय रूप, वाच्य आवाच्य उभयरूप अनेकान्त है। यद्यपि सभी दर्शन अपने अपने मतभेद के कारण परस्पर विरोध करते हैं तथापि उनके द्वारा कहे हुए वस्तु–अश परस्पर सापेक्ष होने पर समीचीनता प्राप्त कर लेते हैं।

अन्यत्र इसी ग्रथ की कारिका ५७ की टीका के पैरा ३७० का अनुवाद करते हुए महेन्द्र कुमार शास्त्री ने अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया है।

अनेकान्त सच्चे एकान्त का अविनाभावी होता है। यदि सम्यक् एकान्त न हो तो उनका समुदाय रूप अनेकान्त ही नही बन सकेगा। नय की दृष्टि से एकान्त और प्रमाण की दृष्टि से अनेकान्त माना जाता है। जो एकान्त एक धर्म वस्तु के दूसरे धर्मों की अपेक्षा करता है उनका निराकरण नही करता वह सच्चा एकान्त है यह सुनय का विषय होता है। जो एकान्त अन्य धर्मों का निराकरण करता है वह मिथ्या एकान्त है यह दुर्नय का विषय होता है। सम्यक् एकान्तों के समुदाय को ही अनेकान्त–अनेक धर्मवाली वस्तु कहते हैं।

इसलिए हमें भूतार्थ का अर्थ पूर्ण सत्यार्थ और अभूतार्थ का, असत्यार्थ का, मिथ्यादर्शन का अर्थ करना चाहिए कि सच तो है मगर तनिक सच, सत्याभास। यही है सम्यक् मिथ्यात्व, दही गुड़ का स्वाद।

तलाश है सत्य की, सपूर्ण सत्य की, आत्म तत्त्व के अपने रूप की, स्व रूप की, तो फिर उसको समझने समझाने के लिए आवश्यकता है सापेक्ष नयवाद की, व्यापक दृष्टि की, समग्रता और समन्वयता की याने स्याद्वाद और अनेकान्त की। अनन्त आत्म तत्त्व के स्व रूप को अनेकान्त के दर्शन द्वारा ही जाना जा सकता है, वही है सम्यग्दर्शन। इसे यो कह ले कि विचार के वातायन सदा खुले रहने चाहिए, नवीन और नवीनतर विचारो, नए दर्शन का स्वागत करते रहना चाहिए और तभी सर्वज्ञ का मार्ग प्रशस्त होगा। दर्शन का अर्थ ही होता है जो है उसे देखना और ऋषि होता है दृष्टा–भूतार्थ को यथार्थ को देखने वाला। सत्याश भ्रम पैदा करता है, सत्याभास व्यामोह पैदा करता है और वही है आत्मा पर आवरण–दर्पण पर धूल–मोहनीय कर्म और वही है सत्य का घोर शत्रु–आत्मघाती–घातिया कर्म।

२१५ मंदाकिनी एन्क्लेव

अलकनन्दा, नई दिल्ली–११००१९

'अनेकान्त'
आजीवन सदस्यता शुल्क १०१ ०० रु
वार्षिक मूल्य ६ रु , इस अक का मूल्य १ रुपया ५० पैसे
यह अक स्वाध्याय शालाओ एव मदिरो की माग पर नि शुल्क

●

विद्वान लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक–मण्डल लेखक के विचारो से सहमत हो। पत्र मे विज्ञापन एव समाचार प्राय नही लिए जाते।

●

सपादन परामर्शदाता श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सपादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक श्री भारत भूषण जैन एडवोकेट, वीर सेवा मदिर, नई दिल्ली–२
मुद्रक मास्टर प्रिटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली–३२

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष–५१ किरण–२–३ अप्रैल–सितम्बर १९९८

वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली–११०००२

दूरभाष : ३२५०५२२

ये सब कुछ बदलेंगे?

पाठकों को सुविदित है कि हमारा लक्ष्य धार्मिक ग्रन्थों की सुरक्षा (यथा स्थिति बनाए रखने) में रहा है और हम किसी भी लोभ–लालच अथवा भय के बिना, अपनी बात को अनेको प्रमाणो से दुहराते रहे है। जबकि कुछ लोग दिगम्बर आगमो मे बदलाव के साथ श्वेताम्बर और बौद्धो के ग्रन्थो मे भी फेर बदल करने पर उतारू हो गये है। इस अंक मे प्रो० उदयचन्द्र दर्शनाचार्य का लेख इस बात का प्रमाण है कि ऐसे लोगो की घात कहॉ तक हो रही है?

कुछ दिन पूर्व हमने ऐसे कुछ शब्द भी देखे जिनके अर्थ (बिना किसी प्रमाण के) लेखक ने अपनी मर्जी से बदल दिये जैसे निर्वाण भक्ति में आए **'वासेण'** शब्द और चेदियभत्ति मे आए **'वासेहिं'** शब्द। इन दोनो शब्दो का अर्थ 'मोक्षरूपी फल' कर दिया (प्राकृत विद्या वर्ष ९ अंक १ पृष्ठ ८)।

हमे स्मरण है जब श्री सुभाष जैन ने सम्मेद शिखर जी के सम्बन्ध मे **'बेबाक खुलासा'** ट्रैक्ट तैयार किया और उसमे 'श्वेताम्बर शास्त्रो के अनुसार दिगम्बर प्राचीन' के प्रसंग मे श्वेताम्बर शास्त्रो के अनेक उद्धरण सगृहीत किए तब उन्होने वे प्रसग एक दिगम्बराचार्य को बतलाए तो आचार्य श्री ने श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि की 'प्रशमरति प्रकरण टीका' का एक उद्धरण तोड़ मरोड़कर इस भॉति दिया–'निर्ग्रन्थ एतेन मूलसघादि दिगम्बरा. प्रयुक्त ' और कहा अपने प्रमाणो मे इसे भी दे दीजिए।

. हमारे समक्ष जब यह प्रसग आया तब हमने उसे देने से इन्कार कर दिया। क्योकि ऐसा करना श्वेताम्बर ग्रन्थो को बदलने का दुष्प्रयास होता और दिगम्बर आचार्य की हॅसाई का परिणाम भी। क्योंकि प्रस्तुत अश व्याकरण सम्मत ही न था–दिगम्बरा: शब्द बहुवचनान्त है और क्रिया को 'प्रयुक्त:' रूप में एक वचनान्त कर दिया था। जबकि ग्रन्थ में 'प्रयुक्त:' न होकर 'प्रत्युक्ता:' है। जिसका भाव उत्तर देने में है–प्रयोग करने में नहीं। तथा ग्रन्थ में पाठ इस भाति है–'इति अशठ सम्यगागमोक्तेन विधिना स निर्ग्रंथ इति। एतेन मूल संघादि दिगम्बरा· प्रत्युक्ता।'

क्रमश:...... पृष्ठ ४० पर

अनेकान्त

वर्ष ५१	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	अप्रैल-सितम्बर
किरण २-३	वी.नि.सं. २५२४ वि.सं. २०५५	१९९८

सीख

जीव तू अनादि ही तैं भूल्यो शिव गैलवा।

मोह पदवारि पियो, स्वपद बिसार दियो।
पर अपनाय लियो, इन्द्रिय सुख में रचियो।
भव तैं न भियों, न तजियो मन मैलवा॥
जीव तू०......

मिथ्या ज्ञान आचरन, धरि कर कुमरन।
तीन लोक की धरन, तामैं कियो है फिरन।
पायो न शरन, न लहायो सुख शैलवा॥
जीव तू०......

अब नर भव पायो, सुथल सुकुल आयो।
जिन उपदेश भायो, 'दौल' झट छिटकायो।
पर-परिणति, दुःखदायिनी चुरैलवा॥
जीव तू०......

-पं० दौलतराम जी

धर्मकीर्ति और जैन दर्शन

–उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

धर्मकीर्ति बौद्धदर्शन के सुप्रसिद्ध आचार्य हुए है, जिन्होने बौद्धदर्शन और बौद्धन्याय विषयक प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की है। आचार्य धर्मकीर्ति ने जैनदर्शन के स्याद्वाद, अनेकान्त आदि किसी भी सिद्धान्त की कभी प्रशंसा की हो, ऐसा मेरे देखने में नहीं आया है। प्रत्युत उन्होने जैनदर्शन के अनेकान्त आदि सिद्धान्तो का यथासभव निराकरण ही किया है। धर्मकीर्ति ने दिगम्बर साधुओ की भी कभी प्रशंसा नही की है, अपितु उन्हें अह्रीक (निर्लज्ज) ही कहा है। उन्होने ऋषभादि जैन तीर्थकरो को आप्त और सर्वज्ञ भी नहीं माना है।

यहाँ प्रकरण यह है कि प्राकृत–विद्या के अक्टूबर–दिसम्बर ९७ के अंक ३ मे पृष्ठ १४ पर पत्रिका के मानद सम्पादक् डॉ० सुदीप जैन का "निर्ग्रन्थ प्रतिमा . परम्परा एव वैशिष्ट्य" शीर्षक एक लेख छपा है। यहाँ इस लेख के कुछ बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

१. विद्वान् लेखक डॉ० सुदीप जी ने पत्रिका के पृष्ठ १९ पर लिखा है–

"वे (धर्मकीर्ति) जैनों को दिगम्बर के साथ–साथ दिन मे ही अपनी जीवनचर्या करने वाले बताते हैं– आह्नीकाः दिगम्बरा· २७। अर्थात् जैन श्रमण दिगम्बर एव आह्नीक (दिन में चर्या करने वाले होते है।"

विद्वान् लेखक का यह कथन विचारणीय है। प्रमाणवार्तिक की किसी भी कारिका में 'आह्नीकाः दिगम्बरा·' ऐसा वाक्य मुझे आज तक नहीं मिला। पता नही जैनदर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० सुदीप जी जैन को उक्त वाक्य कौन–सी प्रमाणवार्तिक में मिल गया है और विद्वान् लेखक ने इस वाक्य का अर्थ किया है कि दिगम्बर साधु दिन में चर्या करने वाले होते हैं। यहाँ

'आह्नीका:' शब्द को 'दिगम्बरा.' शब्द का विशेषण बना दिया गया है, जो सर्वथा गलत है। एक तो 'आह्नीका: दिगम्बरा:' ऐसा वाक्य प्रमाणवार्तिक मे कहीं नहीं है, दूसरे, 'अह्रीका.' के स्थान में आह्नीका.' कर दिया गया है और 'आह्नीका:' का अर्थ किया गया है–दिनमे चर्या करने वाले। किमाश्चर्यमत: परम्।

इस प्रकरण को ठीक से समझने के लिए प्रमाणवार्तिक का अध्ययन आवश्यक है। आचार्य धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्तिक एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें चार परिच्छेद है और चारो परिच्छेदों मे कुल १४५३ कारिकाए है। प्रमाणवार्तिक के तृतीय परिच्छेद मे साख्यमत के निराकरण के बाद की कारिका इस प्रकार है–

एतेनैव यदह्रीका. किमप्यश्लीलमाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसम्भवात्।।–३/१८१

अर्थात् सांख्यमत के निराकरण से ही अह्रीका (निर्लज्ज) दिगम्बरो के मत का भी निराकरण हो जाता है। क्योकि दिगम्बरो का कथन, अश्लील और आकुल है तथा उसमे एकान्त की सभावना बनी रहती है।

प्रमाणवार्तिक मे उक्त कारिका के ऊपर जो शीर्षक है वह 'जैनमतनिराकरणम्' है, न कि 'जैनमतप्रशसनम्। अब उक्त कारिका मे धर्मकीर्ति ने जिन शब्दो का प्रयोग किया है उन पर ध्यान देना आवश्यक है। धर्मकीर्ति ने जैनों को अह्रीक (निर्लज्ज) कहा है तथा उन के कथन को प्रलाप (बकवास) बतलाया है। क्योकि उनका कथन अश्लील (अशोभनीय) और आकुल (व्याकुल) है।

यहॉ ध्यान देने योग्य बात यह है कि उक्त कारिका मे केवल अह्रीक शब्द आया है, इसके साथ दिगम्बर शब्द नहीं है। यहाँ 'अह्रीका.' शब्द 'प्रलपन्ति' क्रिया का कर्ता है। उक्त कारिका की मनोरथनन्दिकृत टीका में 'अह्रीका·' का अर्थ 'दिगम्बरा.' किया गया है। क्योकि दिगम्बरो के साधु अह्रीक (निर्लज्ज) अर्थात् नग्न होते है। इस प्रकार प्रमाणवार्तिक के टीकाकार मनोरथनन्दि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पूर्वोक्त कारिका मे अह्रीक शब्द का प्रयोग दिगम्बरों के लिए किया गया है। प्रमाणवार्तिक के तृतीय परिच्छेद

की कर्णकगोमिकृत टीका भी है। इस टीका मे 'अह्रीका' शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है– "अह्रीका नग्नतया निर्लज्जा. क्षपणका।" अर्थात् नग्न होने के कारण निर्लज्ज क्षपणको (श्रमणो) को अह्रीक कहते है।

विद्वान् लेखक ने 'आह्नीका दिगम्बरा' ऐसा लिखकर उस पर टिप्पण नं २७ दिया है और २७ न. के टिप्पण में लिखा है– प्रमाणवार्तिक पृष्ठ २६५। लेखक को प्रमाणवार्तिक की कारिका का न. देना चाहिए था जो नही दिया है तथा जो पृष्ठ न. दिया है वह भी गलत है। यथार्थ मे उक्त कथन प्रमाणवार्तिक के पृष्ठ ३१३ पर आया है। मेरे पास प्रमाणवार्तिक का सन् १९६८ का सस्करण है। संभव है कि विद्वान् लेखक के पास प्रमाणवार्तिक का कोई दूसरा संस्करण हो। किन्तु मेरी जानकारी के अनुसार सन् १९६८ के बाद मनोरथनन्दि की टीका सहित प्रमाणवार्तिक का कोई दूसरा सस्करण नही निकला है।

यहॉ यह भी समझ मे नही आ रहा है कि किस पुस्तक या शब्दकोष मे आह्नीक शब्द का अर्थ–'दिन में चर्या करने वाले' लिखा है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार अहन् शब्द से इक प्रत्यय करने पर आह्निक शब्द बनता है, आह्नीक नहीं। आह्निक का अर्थ है–दैनिक। जैसे आह्निक प्रवचन, आह्निक स्वाध्याय, आह्निक कार्यक्रम इत्यादि। यथार्थ बात यह है कि प्रमाणवार्तिक मे आह्नीक शब्द नही है तथा व्याकरण के अनुसार ऐसा शब्द बनता भी नहीं है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने पूर्वोक्त कारिका मे जैनो के स्याद्वाद सिद्धान्त का खण्डन किया है। अब उनके द्वारा कृत अनेकान्त सिद्धान्त का खण्डन देखिए–

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृते।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति।।–३/१८२

अर्थात् यदि सब वस्तुएं उभयरूप (अस्ति–नस्ति रूप) है और उनमे कोई विशेष (भेद) नही है तो जिस व्यक्ति से दधि खाने के लिए कहा गया है वह ऊँट खाने के लिए क्यो नहीं दौड़ता है? क्योंकि अनेकान्तवादियो के अनुसार दधि और ऊँट मे कोई भेद नहीं है।

इस प्रकार आचार्य धर्मकीर्ति ने जैनमत के स्याद्वाद, अनेकान्त आदि सिद्धान्तो का यथासंभव निराकरण किया है। यह अलग बात है कि आचार्य अकलक देव ने न्यायविनिश्चय मे धर्मकीर्तिकृत जैन सिद्धान्तो के निराकरण को मय ब्याज के चुकता कर दिया है।

२ यशस्वी लेखक डॉ० सुदीप जी ने पत्रिका के पृष्ठ १९ पर लिखा है–

"प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति लिखते है– ऋषभ वर्द्धमानादि· दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति २६ अर्थात् ऋषभदेव से लेकर वर्द्धमान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर दिगम्बरो के अनुशास्ता सर्वज्ञ एव आप्त पुरुष थे।" विद्वान् लेखक का यह कथन सर्वथा गलत है। क्योंकि पहले तो यह कथन धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु का नहीं है, किन्तु न्यायबिन्दु के टीकाकार आचार्य धर्मोत्तर का उक्त कथन है। दूसरे, उक्त वाक्य जैन तीर्थंकरो को सर्वज्ञ और आप्त बतलाने के लिए नही लिखा गया है, किन्तु दृष्टान्ताभास (सदोष दृष्टान्त) में साध्य और साधन दोनो का अभाव होना चाहिए। इसके विपरीत यदि किसी अन्वय दृष्टान्त मे साध्य और साधन दोनों का सद्भाव नही है तो वह अन्वय दृष्टान्ताभास कहलाता है। इसी प्रकार यदि किसी व्यतिरेक दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनो का अभाव नही है तो वह व्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहलाता है। अन्वयदृष्टान्ताभास का उदाहरण–

कोई कहता है– शब्द अपौरुषेय है, अमूर्त होने से। जो अमूर्त होता है वह अपौरूषेय होता है, जैसे घट। इस अनुमान में शब्द पक्ष है, अपौरुषेयत्व साध्य है और अभूर्तत्व साधन है। यहाँ घट का दृष्टान्त अन्वय दृष्टान्ताभास है। क्योकि घट न तो अमूर्त है और न अपौरुषेय है। अन्वय दृष्टान्त मे तो साध्य और साधन दोनो का सद्भाव होना चाहिए। इसके विपरीत यहाँ घट में साध्य (अपौरुषेयत्व) और साधन (अभूर्तत्व) दोनों का अभाव है। इसीलिए यहाँ घट का दृष्टान्त अन्वय दृष्टान्ताभास है।

व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का उदाहरण–

पूर्वोक्त अनुमान मे ही यह कहना कि जो अपौरुषेय नहीं होता है वह अमूर्त भी नहीं होता है, जैसे आकाश। यहॉ आकाश का दृष्टान्त व्यतिरेक

दृष्टान्ताभास है। क्योकि आकाश मे न तो साध्य (अपौरुषेयत्व) का अभाव है और न साधन (अमूर्तत्व) का अभाव है। व्यतिरेक दृष्टान्त मे तो साध्य और साधन दोनों का अभाव होना चाहिए। इसके विपरीत यहाँ आकाश में साध्य और साधन दोनो का सद्भाव है। इसीलिए यहाँ आकाश का दृष्टान्त व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है।

इतना जान लेने के बाद अब प्रकृतप्रकरण पर विचार करना है। *न्यायबिन्दु मे व्यतिरेक दृष्टान्ताभास ९ प्रकार का बतलाया गया है।* उनमे से एक भेद है–सन्दिग्ध साध्यव्यतिरेक नामक व्यतिरेक दृष्टान्ताभास। इसी दृष्टान्ताभास को समझने के लिए आचार्य धर्मोत्तरने–'ऋषभवर्द्धमानादि: दिगम्बराणा शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति' यह वाक्य लिखा है। पूरा प्रकरण इस प्रकार है'

तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकादय। यथाऽसर्वज्ञा. कपिलादयोऽनाप्ता वा। अविद्यमान सर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वात्। अत्र वैधर्म्योदाहरणम्– य· सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्। यथा ऋषभवर्द्धमानादिरिति। तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयो. साध्यधर्मयो· सन्दिग्धो व्यतिरेक।–न्यायबिन्दु ३।१३०

व्यतिरेक दृष्टान्ताभास विषयक यह सूत्र आचार्य धर्मकीर्ति द्वारा विरचित न्यायबिन्दु का है। अब इस सूत्र की आचार्य धर्मोत्तरकृत टीका देखिए।

य सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकं सर्वज्ञताप्तता–लिङ्गभूतमुपदिष्टवान्। यथा ऋषभवर्द्धमानादि. दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञश्च आप्तश्चेति। तद् इह वैधर्म्योदाहरणाद् ऋषभादे असर्वज्ञत्वस्यानाप्ततायाश्च व्यतिरेको व्यावृत्ति· सन्दिग्धा। यतो ज्योतिर्ज्ञान चोपदिशेद् असर्वज्ञश्च भवेद् अनाप्तो वा। कोऽत्र विरोध·। नैमित्तिकमेतज्ज्ञानं व्यभिचारि न सर्वज्ञत्वमनुमापयेत्।–धर्मोत्तर टीका।

उपरिलिखित सस्कृत वाक्यों का सारांश इस प्रकार है–कोई कहता है–"कपिलादि असर्वज्ञ और अनाप्त हैं, क्योकि उनके उपदेश मे सर्वज्ञता और आप्तता का कारणभूत कोई प्रमाण विशेष नही है।"

यह एक अनुमान है। इस अनुमान मे कपिलादि पक्ष है, सर्वज्ञत्व और अनाप्तत्व साध्य है तथा कपिलादि के उपदेश मे सर्वज्ञता और आप्तता का कारणभूत किसी प्रमाण विशेष का न होना साधन है। इस अनुमान मे व्यतिरेक दृष्टान्त इस प्रकार से दिया गया है–

जो सर्वज्ञ और आप्त होता है वह ज्योतिर्विद्या (नक्षत्र विद्या) आदि का उपदेश देता है, जैसे ऋषभवर्द्धमानादि। यहाँ ऋषभवर्द्धमानादि का जो व्यतिरेक दृष्टान्त दिया गया है वह व्यतिरेक दृष्टान्त न होकर सन्दिग्ध साध्य व्यतिरेक नामक व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है। व्यतिरेक दृष्टान्त मे साध्य का व्यतिरेक (अभाव) निश्चित होना चाहिए। किन्तु यहाँ ऋषभादि मे साध्य (असर्वज्ञत्व तथा अनाप्तत्व) का अभाव निश्चित न होकर सन्दिग्ध है। अर्थात् ऋषभादि मे निश्चित रूप से सर्वज्ञत्व और आप्तत्व की सिद्धि नही हो सकती है। वे सर्वज्ञ और आप्त हो भी सकते है और नही भी। इसका कारण यह है कि कोई पुरुष नक्षत्र विद्या का उपदेश देने मात्र से सर्वज्ञ और आप्त नही हो सकता है। नक्षत्र विद्या का ज्ञान तो नैमित्तिक और व्यभिचारी है। वह ऋषभादि मे सर्वज्ञत्व का अनुमान नही करा सकता है। असर्वज्ञ होने पर भी नक्षत्र विद्या का उपदेश देने मे कोई विरोध नही है। व्यतिरेक दृष्टान्ताभास के प्रकरण मे आचार्य धर्मकीर्ति तथा धर्मोत्तर ने यही बतलाया है। उन्होने ऋषभादि को कभी भी सर्वज्ञ और आप्त नही माना है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त अनुमान मे व्यतिरेक दृष्टान्त देकर जिस किसी ने भी ऋषभादि को सर्वज्ञ और आप्त सिद्ध करना चाहा है उसने उन्हे सर्वज्ञ और आप्त सिद्ध करने के लिए ज्योतिर्ज्ञानादि के उपदेश को हेतु बतलाया है। लेकिन इतने मात्र से वे सर्वज्ञ और आप्त नही हो सकते है। क्योकि वर्तमान मे भी ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् ज्योतिषी नक्षत्र विद्या का उपदेश देते है तथा सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि की भविष्यवाणी करते है। किन्तु इतने मात्र से वे सर्वज्ञ या आप्त नहीं कहे जा सकते है।

माननीय लेखक डॉ सुदीप जी ने पत्रिका के पृष्ठ २० पर लिखा है–"परम नास्तिक चार्वाको ने भी जैन श्रमणो को नग्न ही कहा है। नग्न श्रमणक दुर्बुद्धे[३१]।"

विद्वान् लेखक के अनुसार उक्त उद्धरण प्रशमरतिप्रकरण का है। अत. इस प्रकरण को समझने के लिए प्रशमरतिप्रकरण का अध्ययन आवश्यक है।

प्रशमरतिप्रकरण–

प्रशमरतिप्रकरण आचार्य उमास्वाति की रचना कही गई है, जिसमे २२ अधिकार है और सब अधिकारो की लगातार श्लोक सख्या ३१३ है। सब अधिकारो की पृथक् पृथक श्लोक सख्या नही है। विद्वान् लेखक ने 'नग्न श्रमणक दुर्बुद्धे' इस वाक्य को प्रशमरतिप्रकरण का बतलाया है और इसका टिप्पण न ३१ पर लिखा है – प्रशमरतिप्रकरण ८/४२। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त उद्धरण प्रशमरतिप्रकरण के आठवे अधिकार के ४२वे श्लोक का है। किन्तु आठवे अधिकार की श्लोक सख्या १२३ से लेकर १६६ तक कुल ४४ है तथा उसका विषय विशेषरूप से बारह भावनाओ से सम्बन्धित है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बहुत खोज करने पर भी प्रशमरतिप्रकरण के पूरे श्लोको मे तथा उनकी टीका मे मुझे 'नग्न श्रमणक दुर्बुद्धे' यह वाक्य नही मिला। हो सकता है कि दृष्टिदोष के कारण देखने मे मुझसे कुछ चूक हो गई हो। मै यह जानना चाहता था कि उक्त वाक्य के आगे–पीछे का वाक्य या प्रकरण क्या है। किन्तु इसे जानने मे मुझे सफलता नही मिली। विद्वान् लेखक के अनुसार यदि उक्त कथन चार्वाक का है तो यहॉ विचारणीय बात यह है कि चार्वाक ने जैन श्रमण को नग्न ही नही कहा है, किन्तु इसके साथ ही उन्हे दुर्बुद्धि (भ्रष्टबुद्धि) भी कहा है। इससे चार्वाक के कथन की सच्चाई का पता चल जाता है कि चार्वाक जैन श्रमण की प्रशसा न करके निन्दा ही कर रहा है।

यहॉ यह बात भी विचारणीय है कि प्रशमरतिप्रकरण में जैन दर्शन से सम्बन्धित सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, पॉच व्रत, दश धर्म, बारह तप, बारह भावना आदि का ही वर्णन है। उसमें अन्य किसी दर्शन का खण्डन–मण्डन दृष्टिगोचर नहीं होता है। तब उसमे चार्वाको की बात कहाँ से आ गई। इसे विद्वान लेखक अवश्य ही स्पष्ट करेगे।

प्रबुद्ध लेखक डॉ सुदीप जी ने पत्रिका के पृष्ठ २० पर लिखते है–चूँकि नग्न दिगम्बर रूप को परम मगलमय माना गया है, अत जैन श्रमण परम मगलरूप नग्नता को ही अगीकार करते है[32]।

विद्वान् लेखक ने इस वाक्य मे इन्वर्टेड कॉमा (" ") नही लगाया है, किन्तु इस पर टिप्पण न ३२ अवश्य दिया है। टिप्पण न. ३२ पर लिखा है–चार्वाकदर्शन ८, पृष्ठ ७९। यहाँ अंक ८ से क्या तात्पर्य है? इस प्रकरण को समझने के लिए चार्वाकदर्शन का अध्ययन आवश्यक है।

चार्वाकदर्शन–

चार्वाकदर्शन पर सस्कृत मे लिखा हुआ कोई प्राचीन ग्रन्थ नही मिलता है। अनेक वर्ष पूर्व श्री प आनन्द झा ने हिन्दी मे चार्वाकदर्शन नामक एक पुस्तक अवश्य लिखी थी। यह पुस्तक मेरे पास नही है। विद्वान् लेखक ने अपने लेख मे न तो उक्त वाक्य पर इनवर्टेड कॉमा लगाया है और न उस वाक्य के पहले यह लिखा है कि चार्वाक नग्नता को परम मगलरूप मानते है। इससे यह सन्देह होता है कि क्या उक्त वाक्य स्वयं लेखक का अपना है या उसे चार्वाकदर्शन से उद्घृत किया गया है। इस विषय मे मेरा मत तो ऐसा है कि जिनका सिद्धान्त जीवन पर्यन्त सुखपूर्वक जीने का है तथा धन के अभाव मे ऋण लेकर घृत, दूध पीने का है–

यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिबेत्। ऐसे चार्वाक जैन श्रमणो की नग्नता की प्रशसा क्यो करेगे। वे तो नग्न श्रमण को दुर्बुद्धि ही कहेंगे। उनके अनुसार तो नग्न वही होता है जिसकी बुद्धि मारी गई हो।

मैने यहाँ जो कुछ लिखा है वह सही है या गलत, इस पर मूर्धन्य विद्वान् डॉ. सुदीप जी तथा अन्य विचारशील विद्वान् विचार करने का कष्ट अवश्य करे। मैने यह लघु लेख किसी का दिल दु:खाने के लिए नहीं लिखा है किन्तु इसके लिखने में मेरा आशय इतना ही है कि जो तथ्य है उसे विद्वानों के समक्ष अवश्य आना चाहिए। इत्यल विस्तरेण।

जैनं जयतु शासनम्।

काशी की श्रमण परम्परा और तीर्थंकर पार्श्वनाथ

–डॉ० सुरेश चन्द जैन

काशी विश्व की प्राचीनतम नगरी के रूप मे विख्यात है। सुदूर अतीत मे इस नगरी का महत्व व्यापारिक दृष्टिकोण से ही नही था, वरन् भारतीय सस्कृतियो के मुख्य सवाहक के रूप मे भी इस नगरी को गौरव प्राप्त हुआ था और है। वैदिक पुराण एकमत से साक्षी है कि काशीतीर्थ शिव का प्रधान क्षेत्र है और आज से नही, अतिप्राचीन काल से यह इसी रूप मे जाना जाता है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० मोतीचन्द ने सकेत दिया है कि काशी के आर्यधर्म और कुरू–पाचाल देश के आर्य धर्म मे अन्तर था। इस कथन से यह ध्वनित होता है कि निश्चित ही काशी की सस्कृति आर्य सस्कृति से भिन्न रही है। आज भी "तीन लोक से न्यारी काशी" की लोकोक्ति इस तथ्य को उद्घाटित करती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारतेन्दु समग्र मे उल्लेख किया है . पद पद पर पुराने बौद्ध या जैन भूमिखण्ड, पुराने जैन मन्दिरो के शिखर, खम्बे और चौखटे टूटी–फूटी पड़ी है। काशी तो तुम्हारा तीर्थ न है। और तुम्हारे वेद मत तो परम प्राचीन है। तो अब क्यो नही कोई चिन्ह दिखाते जिससे निश्चित हो कि काशी के मुख्य विश्वेश्वर और बिन्दुमाधव यहॉ पर थे और यहॉ उनका चिन्ह शेष है और इतना बड़ा काशी का क्षेत्र है और उसकी सीमा और यह मार्ग और यह पंचक्रोश के देवता है। हमारे गुरु राजा शिवप्रसाद तो लिखते हैं कि "केवल काशी और कन्नौज में वेद धर्म बच गया था" पर मै यह कैसे कहूँ, वरंच यह कह सकता हूँ कि काशी में सब नगरो से विशेष जैन मत था और यही के लोग दृढ़ जैनी थे। पालथी मारे हुए जो कर्दम जी श्री की मूर्ति है वह तो नि सदेह . . कुछ और ही है और इसके निश्चय के हेतु उस मन्दिर के आसपास के जैन खण्ड प्रमाण है।[1]

उक्त कतिपय उल्लेख इस बात को स्पष्ट करते है कि श्रमण जैन परम्परा के बीज प्रारम्भ से ही काशी मे पल्लवित हुए है। शिव के विषय मे भी जैन परम्परा और वैदिक परम्परा की दृष्टि से पर्यालोचन की आवश्यकता है। वैदिक परम्परा शिव को काशी का अधिष्ठातृ देव मानती है। शिव को रामायण मे महादेव, महेश्वर, शंकर तथा त्र्याम्बक के रूप मे स्मरण किया गया है तथा उन्हे सर्वोत्कृष्ट देव कहा गया है।[2] महाभारत मे शिव को परमब्रह्म, असीम, अचिन्त्य, विश्वसृष्टा, महाभूतो का एकमात्र उद्‌गम, नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है।[3] अश्वघोष के बुद्ध चरित्र मे शिव का वृषध्वज तथा भव के रूप मे उल्लेख हुआ है।[4] विमलसूरि के "पउमचरिउ" के मगलाचरण के प्रसग मे एक "जिनेन्द्र रूद्राष्टक" का उल्लेख आया है, जिसमे जिनेन्द्र भगवान का रुद्र के रूप मे स्तवन है।

पापान्धक निर्भशं मकर ध्वजलोभमोहपुर दहनम्।
तपांभरं भूषितांगं जिनेन्द्र रुद्रं सदा वन्दे॥१॥
संयम वृषभारूढं तमउग्रमह तीक्ष्ण शूलधरम्।
संसार करिविदारं जिनेन्द्र रुद्रं सदा वन्दे॥२॥

अर्थात जिनेन्द्र–रुद्र पापरूपी अन्धासुर के विनाशक है। काम, लोभ एव मोह रूपी विदुर के दाहक है, उनका शरीर तम रूपी भस्म से विभूषित है, सयम रूपी वृषभ पर आरूढ़ है, ससार रूपी करि (हाथी) को विदीर्ण करने वाले है। ऐसे जिनेन्द्र रुद्र को नमस्कार करता हूँ।

शिवपुराण मे शिव का आदितीर्थकर वृषभदेव के रूप मे अवतार लेने का उल्लेख आता है।[5] आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी धवला टीका मे अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप मे उल्लेख करते हुए कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जिन्होने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोहरूपी अन्धकासुर के कबन्ध–वृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होने सम्पूर्ण आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है और दुर्नय का अन्त कर दिया है।[6]

इस ऋषभदेव और शिव को एक ही होना चाहिए। वैदिक परम्परा जहॉ शिव को त्रिशूलधारी मानती है वही जैन परम्परा में अर्हन्त की मूर्तियो को

रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र) के प्रतीकात्मक त्रिशूलाकित त्रिशूल से सम्पन्न माना जाता है। सिन्धुघाटी से प्राप्त मुद्राओ पर भी ऐसे योगियो की मूतिया अकित है जो दिगम्बर है। जिनके सिर पर त्रिशूल है और कायोत्सर्ग (खड्गासन) मुद्रा मे ध्यानावस्थित है। कुछ मूर्तिया ऋषभ चिन्ह से भी अकित है। मूर्तियो के ये रूप महान योगी ऋषभदेव से सबधित माने जाते है।

जैन परम्परा तथा उपनिषद् मे भी भगवान ऋषभदेव को आदि–ब्रह्मा कहा गया है।[७] भगवान ऋषभदेव तथा शिव दोनो का जटाजूट युक्त रूप चित्रण भी उनके ऐक्य का समर्थक है। इस प्रकार श्रमण परम्परा के आदि प्रवर्तक आदिनाथ के समय से ही काशी मे जैन परम्परा विद्यमान रही है। सातवे तीर्थकर सुपार्श्वनाथ[८] आठवे चन्द्रप्रभ[९], गयारहवे तीर्थकर श्रेयासनाथ[१०] तथा तेइसवे तीर्थकर पार्श्वनाथ[११] का गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान कल्याणको की पृष्ठभूमि के रूप मे काशी आज भी समस्त जैन धर्मानुयायिओ के लिए श्रद्धा का केन्द्र है।

इतिहासज्ञो ने तीर्थकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित की है और यह तत्व स्वीकार किया है कि जैन धर्म की अवस्थिति बौद्ध धर्म से भी पूर्व की है। काशी के सन्दर्भ मे तीर्थकर सुपार्श्वनाथ एव चन्द्रप्रभ के सन्दर्भ मे परम्परागत उल्लेख ही मिलते है। इस दृष्टि से जैन श्रमण परम्परा के अतिप्राचीन उत्स की उपेक्षा नही की जा सकती, क्योकि "वातरशना"[१२] "व्रात्य"[१३] आदि के रूप मे वेदो मे उल्लेख आया है। अत श्रमण–परम्परा का आदि एव मूल स्रोत यदि ऋषभदेव है तो उनके परवर्ती तीर्थकरो की स्थिति भी स्वीकार्य हो जाती है क्योकि सिधुघाटी से प्राप्त अवशेषो से यह प्रमाणित हो चुका है कि प्राचीनकाल मे भी श्रमण–परम्परा के अनुयायी थे।

तीर्थकर पार्श्वनाथ

परम्परागत उल्लेखो के अनुसार तीर्थकर पार्श्वनाथ काशी के तत्कालीन राजा अश्वसैन के पुत्र थे। माता का नाम वामादेवी था। अश्वसैन इक्ष्वाकुवशीय क्षत्रिय थे। जैन साहित्य मे पार्श्वनाथ के पिता का नाम अश्वसैन या अस्ससैण मिलता है, किन्तु यह नाम न तो हिन्दू पुराणो मे मिलता है

और न जातको मे। गुणभद्र ने उत्तरपुराण मे पार्श्वनाथ के पिता का नाम विश्वसैन दिया है। जातको के विस्ससैन और हिन्दू पुराणो के विश्वक्सैन के साथ इसका साम्य बनता है। डॉ० भण्डारकर ने पुराणो के विश्वक्सैन और जातको के विस्सेन को एक माना है।[१४]

इतिहासज्ञो ने पार्श्वनाथ का काल ई०पू० ८७७ वर्ष पूर्व निर्धारित किया है। इस ई०पू० ८७७ मे काशी की तत्कालीन सास्कृतिक स्थिति का आकलन पार्श्वनाथ के जीवन एव उनसे सबधित घटनाओ से किया जा सकता है। पार्श्व जन्म से ही आत्मोन्मुखी स्वभाव के थे। उस समय यज्ञ–यागादि और पचाग्नि तप का प्राधान्य था। पार्श्व के जीवन का यह प्रसग कि उन्होने गगा के किनारे तापस को अग्नि मे लकड़ी को डालने से रोका और कहा कि जिस लकड़ी को जलाने जा रहे हो उसमे नाग युगल का जोड़ा है। इसे जलने से रोको। तपस्वी के न मानने पर उससे पुन कहा कि तप के मूल मे धर्म और धर्म के मूल मे दया है वह आग मे जलने से किस प्रकार दया सम्भव हो सकती है? इस पर साधु क्रोधित होकर बोला–तुम क्या धर्म को जानोगे, तुम्हारा कार्य तो मनोविनोद करना है। यदि तुम जानते हो तो बताओ इस लक्कड़ मे जीव कहॉ है? यह सुनकर कुमार पार्श्व ने अपने साथियो से लक्कड़ को सावधानीपूर्वक चिरवाया, तो उसमे से नाग–युगल बाहर निकला।

इस घटना की सत्यता पर प्रश्न हो सकता है, परन्तु इतना निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि उस समय ऐसे तपो का बाहुल्य था और बिना सोचे–समझे आहुतिया दी जाती थी। तीर्थकर पार्श्व और महावीर के काल मे केवल २५० वर्ष का अन्तराल है। इस अवधि मे यज्ञ–यागादि की प्रधानता अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इतना ही नही, अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए विभिन्न यज्ञो को प्रमुखता दी जाती थी। अश्वमेध यज्ञ भी काशी मे सम्पन्न हुआ था। जिसकी स्मृति–शेष के रूप मे अश्वमेध घाट आज भी विद्यमान है। अभिप्राय यह कि "वैदिकीहिसा हिसा न भवति" इसका जनमानस पर पर्याप्त प्रभाव था और इहलौकिक और पारलौकिक कामनाओ की पूर्ति के लिए उक्त उद्घोष को चरितार्थ किया जाता था।

ऐसे समय में तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने श्रमण परम्परा के अनुसार अहिंसामूलक धर्म का प्रचार–प्रसार किया और जन सामान्य को सद्धर्म के मार्ग पर लगाया।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के काल को सक्रमण काल कहा जा सकता है क्योकि वह समय ब्राह्मण युग के अन्त और औपनिषद् या वेदान्त युग के आरम्भ का समय था।[१५] जहॉ उस समय शतपथ ब्राह्मण जैन ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रणयन हुआ वहॉ वृहदारण्यकोपनिषद् के दृष्टा उपनिषदों की रचना का सूत्रपात हुआ था। ऐसे समय मे पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन किया। वह चातुर्याम धर्म (१) सर्वप्रकार के हिसा का त्याग, (२) सर्वप्रकार के असत्य का त्याग, (३) सर्वप्रकार के अदत्तादान का त्याग, (४) सर्वप्रकार के परिग्रह का त्याग। इन चार यामो का उद्गम वेदो या उपनिषदो से नही हुआ, किन्तु वेदो के पूर्व से ही इस देश मे रहने वाले तपस्वी, ऋषि–मुनियो के तपोधर्म से इनका उद्गम हुआ है।[१६]

पार्श्वनाथ और नाग जाति

कुमार पार्श्व द्वारा नागयुगल की रक्षा सबधी घटना को पुरातत्वज्ञ और इतिहासज्ञ पौराणिक रूपक के रूप मे स्वीकार करते हुए यह निष्कर्ष निकालते है कि पार्श्वनाथ के वश का नागजाति के साथ सौहार्दपूर्ण सबध था। चूकि पार्श्वनाथ ने नागो को विपत्ति से बचाया था। अत नागो ने उनके उपसर्ग का निवारण किया।

महाभारत के आदिपर्व मे जो नागयज्ञ की कथा है उससे यह सूचना मिलती है कि वैदिक आर्य नागो के बैरी थे। नाग–जाति असुरो की ही एक शाखा थी और असुर जाति की रीढ़ की हड्डी के समान थी। उसके पतन के साथ ही असुरो का भी पतन हो गया।[१७] जब नाग लोग गगा घाटी मे बसते थे, तो एक नाग राजा के साथ काशी की राजकुमारी का विवाह हुआ था। अत· काशी के राजघराने के साथ नागो का कौटुम्बिक सबध था।[१८]

नागजाति एव नाग पूजा का इतिहास अभी तक स्पष्ट नही हुआ है। विद्वानो का मत है कि नागजाति और उसके वीरो के शौर्य की स्मृति को

सुरक्षित रखने के लिए ही नागपूजा का प्रचलन हुआ है। पडित बलभद्र जैन ने नागजाति और नागपूजा को जैन श्रमण परम्परा के सातवे तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के साथ संबंध जोड़ते हुए यह सकेत दिया है कि सुपार्श्वनाथ की मूर्तियो के ऊपर नागफण का प्रचलन सम्भवत. इसीलिए हुआ कि नागजाति की पहचान हो सके। सर्पफणावली युक्त प्रतिमाए मथुरा आदि मे प्राप्त हुई है। नागपूजा का प्रचलन पार्श्वनाथ की धरणेन्द्र–पदमावती द्वारा रक्षा के बाद से हुआ है। इस प्रकार यक्षपूजा का संबध भी धरणेन्द्र–पदमावती से है।

पुरातत्व एवं जैन श्रमण परम्परा

श्रमण परम्परा के महत्वपूर्ण अवशेषो का काशी की भूमि से प्राप्त होना भी श्रमण परम्परा के स्त्रोत का प्रबल साक्ष्य है। भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे पुरातत्व सबंधी अनेक बहुमूल्य सामग्री संग्रहीत है। इसमे पाषाण और धातु की अनेक जैन प्रतिमाएं है, जिन्हे पुरातत्वज्ञो ने कुषाण काल से मध्यकाल तक का माना है।

उक्त सामग्रियो मे कुषाणयुगीन सप्तफणावली युक्त पार्श्वनाथ का शीर्ष भाग है, जो मथुरा से उत्खनन मे प्राप्त हुआ था। राजघाट के उत्खनन से प्राप्त सप्तफणावली युक्त एक तीर्थंकर प्रतिमा है। इस फणावली के दो फण खण्डित हो गये है। सिर के इधर–उधर दो गज बने हुए है। उनके ऊपर बैठे देवेन्द्र हाथो मे कलश धारण किये हुए है। फणावली के ऊपर भेरी ताड़न करता हुआ एक व्यक्ति अंकित है। यह मूर्ति ११वी शताब्दी की अनुमानित की गई है। पचफणावली से यह सुपार्श्वनाथ की मूर्ति प्रतीत होती है।

एक खड्गासन प्रतिमा, जिसके दोनो ओर यक्ष–यक्षी खड़े हैं। वक्ष पर श्रीवत्स अकित है। इस प्रतिमा पर कोई चिन्ह नहीं है और न ही कोई अलंकरण है। इन कारणों से इसे प्रथम शती में निर्मित माना जाता है।

एक शिलाफलक पर चौबीसी अंकित है। मध्य में पद्मासन ऋषभदेव का अंकन है। कैशो की लटें कंधों पर लहरा रही है। पादपीठ पर वृषभ

चिन्ह अंकित है। दोनो पार्श्वो में शासन देवता चक्रेश्वरी और गोमुख का अंकन है। दोनों द्विभुजी और अलंकरण धारण किये हुए है। चक्रेश्वरी के एक हाथ में चक्र तथा दूसरे मे बिजौरा है। मूर्ति के मस्तक पर त्रिछत्र और दोनों ओर सवाहन गज हैं। त्रिछत्र के ऊपर दो पंक्तिओ मे पद्मासन और कायोत्सर्ग मुद्रा मे २३ तीर्थकर मूर्तियॉ हैं। पीठिका के नीचे की और उपसको का अंकन किया गया है। इसका समय ११वीं शताब्दी अनुमानित किया गया है।[१९]

उक्त पुरातत्व सामग्रियो के अतिरिक्त भेलूपुर स्थित पार्श्वनाथ मंदिर के पुनर्निर्माण के समय भू–गर्भ से अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जिनमे पार्श्वनाथ की एक भव्य एवं प्राचीन प्रतिमा प्राप्त हुई है। खुदाई करते समय असावधानी के कारण पार्श्वनाथ की प्रतिमा खण्डित हो गई। प्राचीन भारतीय स्थापत्य कला के प्रसिद्ध अध्येता प्रो० एम०ए० ढ़ाकी ने इस दुर्लभ प्रतिमा को ई० सन् ५वी शती का तथा अन्य कलाकृतियों को ९वी और ११वी शती का बतलाया है। अज्ञानतावश अनेक मूल्यवान जैन कलाकृतियॉ मदिर की नीव मे ही डाल दी गईं।

इस प्रकार पुरातत्व की प्रचुर उपलब्धता इस ओर संकेत करती है कि काशी की जैन श्रमण परम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन है और तीर्थकर पार्श्वनाथ का प्रभाव अन्य तीर्थंकरो की अपेक्षा अधिक रहा है। इतना ही नही आज भी जगह–जगह पर दिगम्बर जैन मूर्तियो के अवशेष विभिन्न रूपों मे पूजे जा रहे है। उदाहरण के लिए "मूड़कट्टा बाबा" के नाम से विख्यात जो मूर्ति अवशेष रूप मे उपलब्ध है, वह एक कायोत्सर्ग मुद्रा मे खण्डित दिगमबर जैन मूर्ति है। यहं मूर्ति दुर्गाकुण्ड भेलूपुर मार्ग मे मुख्य सड़क पर स्थित है। "बाँस फाटक" जिसे आचार्य समन्तभद्र की उस चमत्कारिक घटना के रूप में स्मरण किया जाता है जो आचार्य समन्तभद्र द्वारा स्वयंभूस्तोत्र की रचना का कारण बना था।

सारनाथ

महात्मा बुद्ध की प्रथम उपदेश स्थली के रूप में प्रसिद्ध यह स्थल जैन परम्परा के ११वें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के जन्मस्थली से सम्बद्ध है।

इसका पूर्व नाम "सिंहपुर" था। जैन मन्दिर के निकट ही एक स्तूप है जिसकी ऊँचाई १०३ फुट है। मध्य में इसका व्यास ९३ फुट है। इसका निर्माण सम्राट अशोक द्वारा करवाया गया था। जैन परम्परा का यह विश्वास है कि भगवान श्रेयांसनाथ की जन्म नगरी होने के कारण इसका निर्माण सम्राट सम्प्रति ने कराया होगा। स्तूप के ठीक सामने सिहद्वार है, जिसके दोनो स्तम्भो पर सिंहचतुष्क बना है। सिंहों के नीचे धर्मचक्र है जिसके दाईं ओर बैल और घोड़े की मूर्तियों का अंकन है।

भारत सरकार ने इस स्तम्भ की सिंहत्रयी को राजचिन्ह के रूप मे स्वीकार किया है और धर्मचक्र को राष्ट्रध्वज पर अंकित किया है। जैन परम्परा अनुसार प्रत्येक तीर्थकर का एक विशेष चिन्ह होता है और जिसे प्रत्येक तीर्थकर प्रतिमा पर अंकित किया जाता है। इसी चिन्ह से यह ज्ञात होता है कि यह अमुक तीर्थकर की प्रतिमा है। यह चिन्ह मांगलिक कार्यों और मांगलिक वास्तुविधानो मे मगल चिन्ह के रूप मे प्रयुक्त होते है। उदाहरणार्थ तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का स्वस्तिक चिन्ह है, जिसे सम्पूर्ण भारत मे जैन ही नही वरन् जैनेतर सम्प्रदाय भी समस्त मागलिक अवसरों पर प्रयोग करते है। सिह महावीर का चिन्ह है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का वृषभ और अश्व तृतीय तीर्थकर सम्भवनाथ का चिन्ह है। इसी प्रकार धर्मचक्र तीर्थकरो और उनके समवसरण का एक आवश्यक अग है। तीर्थंकर के केवलज्ञान के पश्चात् जो प्रथम देशना होती है उसे धर्मचक्र प्रवर्तन की सज्ञा दी जाती है। यही कारण है कि प्रायः सभी प्रतिमाओं के सिहासनों और वेदियो मे धर्मचक्र बना रहता है।

जैन शासको में स्तूप के संदर्भ में विस्तृत विवरण प्राप्त होते है। सारनाथ स्थित जो स्तूप है वह प्रियदर्शी सम्राट सम्प्रति का हो संकता है, क्योंकि यह स्थान श्रेयासनाथ की कल्याणक भूमि रही है। दूसरे "देवानाम प्रियः" यह जैन परम्परा का शब्द है। जैन सूत्रसाहित्य में कई स्थानों पर इसका प्रयोग किया गया है, जिसका प्रयोग भव्य, श्रावक आदि के अर्थ में आता है। पुरातत्वज्ञ उक्त कारणो से ही सम्भवत. इस सदेह को इस प्रकार व्यक्त करते हैं, **"सम्भवतः यह स्तूप सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित हुआ"।**

चन्द्रपुरी (चन्द्रवती)

काशी से २० किमी० दूर आठवे तीर्थकर चन्द्रप्रभु के जन्मस्थान से संबंधित है। जिसके सन्दर्भ मे परम्परागत स्त्रोत उपलब्ध होते है।

उक्त तथ्यों के आलोक मे काशी की जैन श्रमण परम्परा का विशिष्ट स्थान है। जैन स्मृति अवशेष उसकी प्राचीनता और व्यापकता को स्पष्ट करते है। भारत मे कही भी उत्खनन से प्राप्त होने वाली सामग्रियों मे से श्रमण परम्परा के २३वे तीर्थकर पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं सबसे अधिक प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि काशी की परम्परा का सम्पूर्ण देश पर कालजयी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भ सूची

१ भारतेन्दु समग्र–पृष्ठ ६४९, ६५०।

२ रामायण–बालकाण्ड–४५, २२–२६, ६६। ११–१२, ६, १, १६, २७।

३. महाभारत द्रोण –७४, ५६, ६१, १६९, २९।

४ बुद्ध चरित्र–१०, ३, १, ९३।

५ इत्थ प्रभाव ऋषभोऽवतार. शकरस्य मे।
सता गतिर्दीनबन्धुर्नवम कथितवस्तव।
ऋषभस्य चरित्रं हि परम पावन महत्।
स्वर्ग्यं यशस्यमायुध्य श्रोतव्य च प्रचत्नत ॥शिवपुराण ४, ४७–४८

६ ध्वला टीका–१ पृष्ठ ४५, ४६।

७ ब्रह्मा देवानां प्रथम सवभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता– मुण्डकोपनिषद १, १। आधार–डॉ० राजकुमार जैन, ऋषभदेव तथा शिव संबंधी प्राच्य मान्यताएं–अनेकान्त वर्ष १९–अक १–२।

८ वाराणसीए पुडवी सुपइट्ठेहि सुपास देवाय।
जेट्ठस्स सुक्कवार सिदिणम्भि जादो विसाहाए ॥तिलोयपण्णत्ति–४/५३२

९ चन्दपहो चन्दपुरे जादो महसेण लाच्छेमहि आहि।
पुस्सस्स किण्ण एयारसिए अणुगह णक्खन्ते॥तिलोयपण्णत्ति–४/५३३

१० सीहपुरे सेएंसो विष्हु णरिदेण वेणुदेवीए।
एक्कारसिए फागुण सिद पक्खे समणभेजादो॥तिलोयपण्णत्ति–४/५३६

११ हयसेण वम्मिलाहि जादो हि वाराणसीय पासजिणो।
पुसस्स बहुल एक्कारसिए रिक्खे तिसाहाए॥लिलोयपण्णत्ति–५/५४८

१२ मुनयो वातरशना पिशांगा वसते गला –ऋग्वेद–१०/१३५/२

१३ व्रात्य आसीदीयमान एव य प्रजापति समैरयत्–अथर्ववेद–प्रथम सूक्ति।

१४ प० बलभद्र जैन–भारत के जैन तीर्थ पृष्ठ १२४।

१५ कैलाश चन्द शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका–पृष्ठ १०८।

१६ वही–पृष्ठ १०७

१७ वही–पृष्ठ १०४

१८. वही–पृष्ठ १०४

१९ बलभद्र जैन, भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ प्रथम भाग, पृष्ठ १२६।

निदेशक, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी

क्या है यह सब?

–ले० जस्टिस एम०एल० जैन

पूछते है लोग–ये जिन्हे आप मुनि कहते हैं वे या तो सर्वथा जन्मजात नग्न है या सफेद कपड़े पहने हुए हैं, कुछ मुंह पर पट्टी बांधे रहते है, जगह–जगह जनता मे प्रवचन करते है, पैदल चलते है, कई दिनो के उपवास करते है, मौत आई जानकर उसके लिए तैयार हो जाते है, नाम भी अजीब रखे हुए है, कोई सागर है ज्ञान का तो कोई विद्या का तो काई आनन्द का मानो सागर कोई छोटा सा जलाशय हो, क्या है यह सब?

ये जो बड़े–बड़े मदिर एक से एक कला के नमूने है, इनमें जो हाथों से लिखे हर विषय के ग्रंथ संजोए हुए है, इनमे बड़ी सुन्दर मूर्तियॉ है जिनके सामने अपनी पूरी ताकत से और लाउडस्पीकर की ताकत से आप कुछ गाते है, कुछ बोलते भी है न समझ मे आने वाले कुछ शब्द वे ही जिन्हे कहते है मत्र। क्या है यह सब?

यह महिलाएं सुन्दर व कीमती कपड़े गहने पहने सर पर चादी–सोने के बरतनो में जल लेकर बड़े–बड़े जुलूस मे चलती है, क्या है यह सब?

ये आप लोग कुछ चीजे खाते है–कुछ से परहेज करते है, कई है जो रात मे केवल पानी ही पीते हैं, भागे–भागे जाते है मुनियो पण्डितो के व्याख्यान सुनने, क्या है यह सब?

क्या है यह सब?

इन सवालो के जवाब है बड़े बड़े ऐसे जो देशी–विदेशी सबको, विद्वानों को डाले उलझन मे, इसलिए पूछते है–बताइए थोड़े से शब्दो में, क्या है यह सब जिसे आप कहते है अपना धर्म, जैन धर्म, अहिंसा धर्म और विश्व धर्म

और हां क्यो कहते हैं उनको तीर्थकर जो कर्ता–धर्ता नही है, शादिया रचाते है या अकेले रहते है राज करते है, ठाठ से रहते है, निरा उपदेश करते है और उनको आप फिर भी कहते है यही है हमारे भगवान, क्या है यह सब?

और ये पण्डित लोग जो कहते है हम प्राकृत सस्कृत व्याकरण के जानकार हैं, मंचों से पत्रिकाओं से तरह तरह की तकरीरे कर रहे है जो शायद उनके अलावा कोई नही समझ पाता, क्या है यह सब?

क्या है यह झगड़ा किसी पहाड़ का, कुछ मदिरों का जिनको लेकर आप झगड़ रहे हैं–अदालतों में भागे जा रहे है पूजा कौन करेगा, कौन इन्तजाम करेगा इस बात को तय कराने के लिए क्या है यह सब?

क्या है यह सब?

हाँ, इन सबका जवाब है जो शायद आप के गले उतर जाए। कई कई सालो पहले हुए थे एक महापुरुष, उनके पहले भी हो चुके थे ऐसे कई लोग मगर उनके बारे में हम नहीं जानते, हॉ इनके बारे में कुछ जानते हैं–सहूलियत के लिए इनको हम कह ले कि ये हैं हमारे आदिनाथ। इन आदिनाथ ने चलाया है सबसे पहले यह सब सिलसिला जिसे देखकर आप हैरान है और कर रहे ये सब सवाल। उनके पीछे ऐसे २३ और आए जिनमें से अतिम थे जिनको बुद्ध ने कहा 'नाथपुत्र' किन्तु हमने उनको कहा वीर, अतिवीर, महावीर एक और अच्छा नाम है उनका सन्मति। उनके जमाने मे वेदो के नाम पर यज्ञों की आग में जानवर झोके जाते थे–इस महापुरुष ने इसका विरोध किया और कहा कि अकल से काम लो, कुछ तो रहम लाओ दिलो मे, बहुत विरोध हुआ इस विरोध का मगर अंत में सबको सन्मति मिली। यह है कोई २५२५ साल पहले की बात। उनके इस सिलसिले को आगे बढ़ाया कुछ संतो ने जिन्हें हमने नाम दिया आचार्य और अब उस जंजीर की अंतिम कड़ी हैं ये लोग जिन्हें हम पण्डित कहते हैं।

मगर इन आचार्यों और पण्डितों की मत सुनिए–मैं समझाता हूँ आपको चद शब्दों में कि इस सबका राज क्या है–मत पड़िए तीर्थंकर, साधु, पंडित, शास्त्र, मंदिर, पूजा–पाठ, पहाड़, मत्र–तंत्र, जुलूस, प्रवचनों के झमेले में।

सुना होगा आपने नाम उपनिषद् का। हॉ, तो उसमे से एक उपनिषद् सवाल करता है, बड़ा सवाल है, यह सबके मन मे उठता है जो सवाल आप कर रहे हैं उन सबकी जड़ में है यह सवाल–

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवनम् केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।

सवाल है कि हम चलते रहे है उस व्यवस्था मे जो उन लोगो ने बनाई है जो कहते हैं हम तो ब्रह्म को याने इस दुनिया के राज को जानते है किन्तु कौन है यह ब्रह्म, कहॉ से आए हम, कौन जिन्दा रखे हुए है हमे, क्या है यह ठहराव, सुख दु ख किसके द्वारा दिए जा रहे है।

इन सब पर विचार किया उन २४ महापुरुषो ने और कहा हम जान गए हैं सब कुछ, हम सर्वज्ञ है तुमको भी सब कुछ समझा देगे, पार लगा देंगे तुमको, हम है तीर्थकर। उनने कहा, देखो, एक शरीर धारी है कोई पौधा हो या मनुष्य पर एक दिन वह मर जाता है। क्या है यह मरना–देखा उस शरीरधारी की सब हरकत बंद हो गई है सास बद हो गई है हमेशा के लिए, तो सवाल उठा कि क्या था जो चल रहा था, चला रहा था शरीर को–क्या था वह जो ऐसा गया कि बस सब चलना ही बद कर गया–थी कोई शक्ति कोई चीज जो जिन्दा बनाए थी शरीर को, सासो को चलाती थी। दिखता वह है नही दुनिया के किसी भी बृहत् दर्शी यत्र से, छूने को कुछ नही, कोई खुशबू बदबू भी नही, सुनता सुनाता भी नही, खाता पीता भी नही–मगर है कोई द्रव्य, जो गतिशील है गति देता है, हरकत पैदा करता है–है ऐसा कुछ–क्या नाम दे उसको कि नाम लेते ही समझ मे आ जाए–हाँ, आत्मा नाम ठीक रहेगा क्योकि अत् या अन् से बना है यह शब्द–इसका अर्थ है चलते रहना, बस चलते रहना, सांस लेते रहना। कैसे समझे इस आत्मा को जिसका कोई रूप है तो केवल स्वरूप। इसको 'स्व' कह सकते है। स्व बस स्व है। ऐसे स्व को भला कोई मार सकता है, जला सकता है, नहीं, कदापि नहीं।

अब यह स्व कहाँ जाता है, कहॉ से आता है? यह भी देखा कि कोई एक शरीर चेतना हीन होता है, कोई एक चेतना प्राप्त करता है, हो न हो यह एक

शरीर से दूसरे मे जाता है यह 'स्व' यह आत्मा। एक शरीर छूटने पर दूसरे शरीर मे जाने मे समय तो लगता है पर यह स्व/आत्मा चलता ही रहता है। देखा है आपने कैसे हम पुराने कपड़ो को छोड़कर नए कपड़े पहनते हैं वही हाल है इस स्व का। आत्मा का। इस स्व की इस आत्मा की एक और खूबी देखने मे आई। जब यह चोला बदलता है तो जैसा चोला उसी के माप के अनुसार स्व को भी घटा बढ़ा लेता है। शरीर बदलता तो रहता है परन्तु कभी ऐसी अवस्था पर भी पहुंच जाता है जब फिर चोले बदलने की जरूरत नहीं रहती। एक ऐसी जगह पर ऊपर जाकर हमेशा के लिए ठहर जाता है न नीचे जाता है न और ऊपर। यही है सिद्ध अवस्था। तब वह अन्य आत्माओ से भिन्न हो जाता है–कह सकते है कि परम आत्मा बन गया। केवल एक ही बात है कि इस विश्व के आगे नहीं जा सकता–जरूरत भी तो नही रहती कही आने जाने की। कोई शरीर नही होता केवल स्व मात्र रह जाता है ऐसी कई परमात्माए है वहॉ पर। जगह सीमित है विराम स्थल की, उसी मे एक दूसरे के लिए जगह बनाए हुए है, पूरा सह अस्तित्व है वहॉ, आइए अब समझाए आपको कि यह विराम कैसे मिलता है। आप यह तो देखते–जानते ही है कि यह विशाल जगत है। यह कहॉ से आया, किसने बनाया, क्या है इसका अजाम? यह सवाल ही न करो क्योकि इसका जवाब किसी के पास नही है जो आपको सबको सतुष्ट कर सके। बस मान लो कि इसका ओर छोर नही है। अधिक पूछोगे तो कहना पड़ेगा कि यह सब माया है, दिमाग का भ्रम है। इसलिए इससे ही खातिर जमा रहो कि यह ससार अनादि और अनन्त है। खोज रहा है अभी नवीन विज्ञान मगर पहले भी खोजा था और आगे भी खोज का यही नतीजा रहेगा।

मान लेते है है यह कोई द्रव्य जिसे आप स्व या आत्मा कहते है मगर इसके इस घूमने का एक जगह से दूसरी जगह जाने का इस चक्कर के कारण का, इसके दु ख सुख के कारण का भी पता चला है आपको?

हॉ, क्यो नही? इस विशाल जगत मे अनत परमाणु है और अनत ही रहते है हरेक जीवधारी के आसपास, हर समय मडराते रहते है चहुओर सर्वत्र। इनको हम कर्म कहते है। इससे अच्छा कोई शब्द नही मिलता इनके लिए। कर्म इसलिए कहते हैं कि ये हरकत मे आते है हमारे कारनामो से,

हमारे सोचने व काम करने पर, कह सकते है कि हमारे कर्म से ही ये कर्म परमाणु आते जाते है। है तो ये अजीव–जीव से भिन्न स्व से अलग। स्व की तरह दिखते भी नही हैं परन्तु करिश्मा बड़ा है इनका। इनमे कुछ है अच्छे और कुछ बुरे। कोई काम अच्छा बुरा सोचा, किया, कि ये आकर चिपक जाते है स्व से आत्मा से जैसे साफ सुथरे आइने पर आकर जम जाती है धूल। अब यह सवाल न करो कि इन अजीव कर्माणु मे कहॉ से आई यह बात कि यह तमीज करे कि कौन सा काम अच्छा है और कौन सा बुरा–किस नाप तोल से आते है। ये सब है बस है आते है किसी हिसाब से बस आते है। क्या करेगे ज्यादा जानकर। इतना जान लो कि यही है जो सुख दु ख देते है, स्व को घुमाते रहते है।

तो फिर कैसे छूटे इनसे पीछा, निजात पाए इनसे कैसे। एक तरीका तो है इनको आने से रोको और यदि आत्मा से चिपक चुके है तो उनको साफ करो और जा पहुचो वहॉ जहॉ और परमात्माए वर्तमान है। इनको रोकने व साफ करने का रास्ता तलाश किया है–बड़े सोच विचार के बाद एक रास्ता निकाला है जिसे कहते है अहिसा, अचूक अस्त्र है वह। सबसे राग व द्वेष का छोड़ना ही है अहिसा। किसी अन्य स्व। आत्मा को तकलीफ पहुॅचाना तो दूर, ऐसा करने के लिए न मन मे लाओ न बोलो। ऐसा करोगे तो कर्माणु न आएगे न चिपकेगे और चिपक गए वे झड़ भी जाएगे। कुछ ऐसे भी तो है जो अपना असर दिखाकर झड़ भी जाते है, समय पाकर कमजोर होकर गिर जाते है जैसे बुढ़ापे मे दॉत। यह सब तभी सभव है जब आप मन को साफ करने की दिशा मे कदम उठाए। ये जो सब आप जिसे देखकर हैरान है बस वही कदम है–हर स्व। आत्मा की शक्ति के अनुसार। सोपान बनाए गए है ये नियम, पूजा, पहाड़, मदिर, मूर्तिया, मत्र–तत्र, ये जुलूस, ये मुनि, ये प्रवचन। इनसे आगे है अध्ययन और ध्यान। बड़ी ताकत है ध्यान मे। ध्यान की ओर ही ले जाते है ये छोटे–छोटे रास्ते। इसे योग भी कह लेते है। यह ले जाते है स्व की ओर और स्व पर पहुचे बिना आपके स्व के आना जाना सुख दु ख लगा ही रहेगा, स्व भटकता ही रहेगा। ध्यान मे तमाम इद्रियो व मन पर काबू करना होता है, जब पूरा काबू पा लिया जाए, तो उस स्व आत्मा को हमने जिन यह नाम दिया है। हम हार–जीत की भाषा जल्द समझते है इसलिए जिसने इन्द्रिय और मन को जीत लिया वह जिन है।

ध्यान के, योग के बिना जिन नही बन सकते। ध्यान है उस सोच का नाम जो आत्मा को कर्मो से अलग मानकर केवल स्व को ही सब कुछ समझे। जिस समय यह कोशिश कम हो जाए तब सब क्रियाए शान्त, सब विचार बद–पूर्ण सिद्धावस्था हो जाती है–कोई न राग रहता न द्वेष–सब कुछ स्वच्छ, साफ, सफेद जिसमे कोई मेल नही न अच्छा न बुरा–हॉ कह सकते हो सब कुछ अच्छा ही अच्छा। मानो सब आवाजे शान्त हो और बजे वह आवाज जो बिना बजाए गूजे, अनाहत नाद–केवल ओम् मधुर सगीत जिसे केवल आप सुने और पुलकित हो, अनन्त प्रकाश। यही है जीवन की असली कमाई असली अर्थ। अर्थ का अपना अर्थ तो है ही परन्तु जिस स्व अर्थ की मै बात कर रहा हूँ वही है असली स्वार्थ और हॉ, इसे ही हम कहते है स्व का आत्मा का धर्म याने स्व भाव। बड़ा अजीब है यह धर्म शब्द। कर्तव्य को भी धर्म कहते है विभिन्न विचारधाराओ और धारणाओ को भी धर्म नाम से पुकारते है और धर्म एक द्रव्य भी है जिसके बिना चल नही सकते।

इन सबको मिलाकर जो आप समझे है वही है 'जिन' का चलाया जैन धर्म, अहिसा धर्म, विश्व धर्म। यह आसान भी है कठिन भी। कठिन है इसलिए जैनधर्म, आसान है इसलिए विश्वधर्म।

फिर भी आप पूछेगे, क्या लगा रखा है यह श्वेताम्बर, यह दिगम्बर। एक ही तत्त्व के उपासक झगड़ रहे है। वैसे बात यह है कि अहिसा की परिणति ध्यान की परिणति अपरिग्रह मे जाकर होती है।

जब पूर्णतया परिग्रह हट जाएगा तो व्यक्ति अपरिग्रही हो जाएगा परन्तु एक तबका है जो कहता है वस्त्र तो रखना होगा वर्ना लोक मे निर्वाह मुश्किल है खास कर महिलाओ के लिए। थोड़ा परिग्रह भी अपरिग्रह ही तो है। असली परिग्रह तो राग है मूर्छा है। आचरण शैली का भेद है परन्तु असली बात को भूलेगे तो झगड़े होगे ही–उन्हे निपटने दीजिए। आप तो बस स्व का ध्यान लगाइए और मुक्ति पाइए। मुक्ति ही है वास्तविक सुख।

कितना सरल है यह सब। यही है यह सब।

–२१५, मंदाकिनी एन्क्लेव, नई दिल्ली–११००१९

मंत्र–तंत्र विषयक जैन साहित्य

–डॉ० ऋषभचन्द्र जैन "फौजदार"

वैदिक और बौद्ध परम्पराओ के समान जैन परम्परा मे भी प्राचीनकाल से ही तत्र का विशेष महत्व है। जैन परम्परा का तत्र मुख्यत मत्र (मत्रवाद) पर आधारित है। मत्र–तत्र विद्या का सम्बन्ध दृष्टिवाद के "विद्यानुवाद पूर्व" तथा "चूलिकाओ" से है। ये चूलिकाएँ पॉच है–(१) जलगता (२) स्थलगता (३) मायागता (४) रूपगता और (५) आकाशगता। इनका विवरण हमे षट्खण्डागम की धवला टीका मे प्राप्त होता है।[१] जैन परम्परा का मूलमत्र "णमोकार मत्र" है, जिसे अनादि निधन कहा जाता है। इसमे अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन पॉचो को नमस्कार किया गया है, इसलिए इसे नमस्कार मत्र या पच नमस्कार मत्र भी कहा गया है। इस मत्र का प्राचीनतम तथा अपूर्ण उल्लेख सम्राट खारवेल के हाथीगुफा लेख मे उपलब्ध होता है। वहॉ केवल "नमो अरहताण" और "नमो सवसिधान" ये दो पद ही पाये जाते है।[२] इसका पूरा पाठ षट्खण्डागम, भगवती, प्रज्ञापना और कल्पसूत्र आदि ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है।

ओकारमय (अरहन्त, अशरीरी, आचार्य, उपाध्याय और मुनि) णमोकार मत्र मूलत विशुद्ध आध्यात्मिक मत्र है, इसके जाप से साधक को विशेष ऊर्जा प्राप्त होती है। वह ऊर्जा साधक के कर्ममल को जलाकर नष्ट कर देती है, जिससे उसकी आत्मा विशुद्ध हो जाती है और अन्तत साधक मोक्षसिद्धि प्राप्त कर लेता है। इस मत्र का उपयोग स्तभन, वशीकरण, उपसर्ग निवारण आदि कार्यो मे भी होता रहा है। जैन साहित्य मे इस मत्र के अनेक चमत्कारिक उदाहरण देखे जा सकते है।[३]

जैन परम्परा मे चौबीस तीर्थकरो के शासनदेव स्वीकार किये गये है, वे यक्ष और यक्षी युगलरूप होते है ये शासन तीर्थकरो के आराधको के सकटो का निवारण करने वाले तथा अनेक सिद्धियो के दाता माने जाते है। जैन परम्परा के मत्र–तत्र विषयक साहित्य मे पहले तीर्थकर ऋषभदेव की शासनदेवी चक्रेश्वरी, आठवें तीर्थकर चन्द्रप्रभ की शासनदेवी ज्वालामालिनी, बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथ की शासनदेवी अम्बिका अपरनाम कूष्माण्डिनी और तेईसवे तीर्थकर पार्श्वनाथ की शासनदेवी पद्मावती की आराधना विशेष रूप से की गई है। यहाँ सरस्वती देवी का भी खूब प्रभाव दिखाई देता है। स्तुति–मत्रो के जाप और होम करने से सिद्धिया प्राप्त होती है। उन सिद्धियो का स्व–पर उपकार के लिए प्रयोग मे लाना तत्र है। मत्र, यंत्र, सिद्धि विधान एव प्रयोग आदि का विस्तृत विवरण सम्बद्ध ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। यहाँ जैन परम्परा के कतिपय तत्र–मत्र विषयक ग्रन्थो का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है

अनुभवसिद्धमंत्र द्वात्रिंशिका

इसके कर्ता आचार्य भद्रगुप्त है। एच०आर० कापडिया ने इसका रचनाकाल विक्रम की सातवी सदी माना है।[४] इस द्वात्रिशिका का प्रकाशन "भैरव पद्मावती कल्प" के तीसवे परिशिष्ट के रूप मे सन् १९३७ मे अहमदाबाद से हुआ है। रचनाकार ने ग्रन्थारम्भ मे इसे "मत्र–द्वात्रिशिका" तथा अन्त मे "महामत्र– द्वात्रिशिका" कहा है। इसमे कुल पॉच अधिकार है, जिसमे क्रमश २०, ४९, ४१, ५० एव २४ श्लोक है। मगल पद्य के बाद कहा गया है कि स्तभन, मोहन, उच्चाटन, वश्याकर्षण, जभन, विद्वेषण, मारण, शान्तिक, पौष्टिक आदि को विधि के अनुसार इस शास्त्र मे कहूँगा। प्रथम अधिकार के आठवे श्लोक मे बताया गया है[५] कि "विद्याप्रवादपूर्व के तीसरे प्राभृत से श्री वीरस्वामी के द्वारा कर्मघात के निमित्त यह उद्धृत किया गया है।" प्रथम अधिकार को "सर्वकर्मकरण" नाम दिया गया है। द्वितीय अधिकार मे अपराजिता देवी की सिद्धि प्राप्त करने वाले को लोक मे अपराजित बताया गया है। यहाँ "पिशाचिनी" नामक विद्या का सिद्धिविधान भी कहा गया है। तीसवे पद्य मे मत्र विधि को "परमागमसंप्रोक्त" कहा है। यहाँ यह भी बताया गया है कि मनुष्य जिस–जिस सासारिक कार्य का विचार करता है, इस मत्र के प्रभाव से उसे वह सब कुछ प्राप्त होता है।[६]

चतुर्थ अधिकार मे अम्बिका देवी, सरस्वती देवी और पद्मावती देवी की आराधना का विधान बताते हुए उन्हे सर्वकार्य साधिका निरूपित किया है। इस अधिकार के तीसवे पद्य मे "सेतुबन्ध" काव्य का उल्लेख प्राप्त होता है। आगे कहा है कि मनीषियो को सत्पात्रो मे सिद्धि का व्यय करते रहना चाहिए, अन्यथा सिद्धि क्षीण हो जाती है। पचम अधिकार मे गुरुशिष्य दोनो के लिए दिशानिर्देश है। अन्त मे ग्रन्थकार ने कहा है कि योग्य पात्रो के हित की कामना से मैने श्रुतसागर का आलोडन करके महारत्नो के समान इन मत्रों का कथन किया है।[७]

ज्वालामालिनी कल्प

इसके कर्ता इन्द्रनन्दि है। इनके गुरु का नाम बप्पनन्दि या बप्पणनन्दि है। ग्रन्थप्रशस्ति के अनुसार इसका रचना काल शक सम्वत् ८६१ (ई० सन् ९३९) है।[८] इसकी एक हस्तलिखित प्रति जैन सिद्धान्त भवन, आरा मे सुरक्षित है।[९] इसका प्रकाशन सन् १९६६ मे मूलचन्द किसनदास कापडिया सूरत ने किया है। इसमे स्व० प० चन्द्रशेखर शास्त्री की भाषा टीका भी छपी है।[१०] इस ग्रन्थ का समीक्षात्मक विवरण अनेकान्त वर्ष १, पृष्ठ ४३० एव ५५५ आदि पर जुगलकिशोर मुख्यार ने प्रकाशित किया था। इसमे कुल पाच सौ श्लोक है। ग्रन्थ दस अधिकारो मे विभक्त है–(१) मत्री (२) ग्रह (३) मुद्रा (४) मडल (५) कटुतैल (६) यत्र (७) वश्यतत्र (८) स्नपन विधि (९) नीराजन विधि और (१०) साधन विधि।

ग्रन्थ मे ज्वालामालिनी देवी की स्तुति, मत्र एव सिद्धि विधान वर्णित है। प्रथम पद्य मे चन्द्रप्रभ की वन्दना की गई है। यहॉ ज्वालामालिनी देवी का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि उसका शरीर श्वेत वर्ण है, वाहन महिष है, यह उज्ज्वल आभूषणो से युक्त है, इसके आठ हाथ हैं, जिनमें क्रमश· त्रिशूल, पाश, मत्स्य, धनुष, मंडल, फल, वरद (अग्नि) और चक्र धारण किये है। इस ग्रन्थ में ज्वालामालिनी देवी के सिद्धि विधान का विस्तार से कथन करने के बाद कौमारी देवी, वैष्णव देवी, वाराही देवी, ऐन्द्री देवी, चामुण्डा देवी एवं महालक्ष्मी देवी की पूजन विधि कही गई है। ग्रन्थ का वैशिष्ट्य दिखाने के लिए विदुषी कमलश्री का वृत्तान्त दिया गया

है।[११] कमलश्री ग्रहबाधा से पीड़ित थी, जिसे हेलाचार्य (ऐलाचार्य) ने नीलगिरि शिखर पर ज्वालामालिनी देवी की आराधना से मत्र प्राप्त करके दूर किया था।

विद्यानुशासन

इसके कर्ता जिनसेन के शिष्य मल्लिषेण सूरि है। ये बड़े मत्रवादी थे। महापुराण मे इन्होने स्वय को "गारुड़मत्रवादवेदी" लिखा है। विद्यानुशासन मत्रशास्त्र का सबसे बड़ा ग्रन्थ है। इसमे चौबीस अधिकार तथा पॉच हजार मंत्र है।[१२] इसमे लगभग सात हजार श्लोक है। एच०आर० कापडिया ने इसे सग्रह ग्रन्थ कहा है।[१३] इसमे मल्लिषेण सूरि के अन्य ग्रन्थो का अधिकाश भाग पाया जाता है, इसलिए उनके द्वारा रचित कहा जाता है। इसका उल्लेख जिनरत्न कोष पृ ३५५ पर हुआ है। इसका रचनाकाल विक्रम सं० १११० के आस–पास है।

भैरवपद्मावती कल्प

यह भी मल्लिषेण सूरि की रचना है। ग्रन्थ के पुष्पिका वाक्य मे इन्हे "उभयभाषा कविशेखर" कहा गया है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की श्लोक सख्या चार सौ (१०/५६) लिखी है, किन्तु प्रकाशित सस्करण मे यह सख्या ३०८ है। इस पर बन्धुषेण की सस्कृत टीका है। यह ग्रन्थ प्रो० के०वी० अभयंकर द्वारा सम्पादित तथा साराभाई मणिलाल नवाब के गुजराती अनुवाद के साथ सन् १९३७ मे अहमदाबाद से प्रकाशित है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियॉ जैन सिद्धान्त भवन, आरा मे सग्रहीत है।[१४] ग्रन्थकार तथा टीकाकार दोनो ने सर्वप्रथम पार्श्वनाथ को नमन किया है ग्रन्थ दश अधिकारो मे विभाजित है। (१/१५)

पहले मन्त्रिलक्षण नामक अधिकार मे साधक की योग्यता का निरूपण है। दूसरे सकलीकरण अधिकार मे अगन्यास, दिग्बन्धन, ध्यान, अमृतस्नान आदि के विषय मे बतलाया गया है। ध्यान के लिए पद्मावती की जिस मुद्रा का अकन किया गया है, वैसे लक्षणों से युक्त पद्मावती की प्रतिमा ईडर के एक जैन मन्दिर में बतायी गई है।[१५] तीसरे देव्यर्चनाधिकार मे शान्तिकादि

षट्कर्मो के निमित्त दिशा, काल, आसन, पल्लव और अगुलि का विधान कहा गया है। अनन्तर यत्र लेखन विधि, आह्वान, स्थितीकरण, सन्निधीकरण, पूजाविधान और विसर्जन रूप पचोपचारी पूजा विधि वर्णित है। मूलमत्र के तीन लाख जाप पद्मपुष्पो से करने पर पद्मावती देवी सिद्ध हो जाती है। पश्चात् षडक्षरी, त्रयक्षरी, एकाक्षरी मत्र, होमविधान तथा पार्श्वयक्ष को सिद्ध करने की विधि बतायी गई है। चौथे अधिकार मे बारह यंत्रो एव उनके मत्रो का कथन है। पांचवे अधिकार मे स्तभन मत्रो एव यत्रो का विधान है। छठवे अधिकार में अंगनार्षण मत्र–यत्र बताये गये है। सातवे अधिकार मे वशीकरण के अनेक मत्रो और यत्रो का वर्णन है। आठवे अधिकार मे दर्पण–निमित्त मत्र एव साधन विधि, दीप निमित्त और कर्णपिशाची की सिद्धि का विधान है। नवमे वशीकरण तत्र नामक अधिकार में अनेक औषधीय तत्रो का उल्लेख है, जो स्त्री–पुरुषो को आकर्षित करने तथा वश मे करने के लिए उपयोगी बताये गये है। इनमे जनमोहन तिलक, चूर्ण भक्षण, अजन विधान, द्यूतजय योग, जलूका प्रयोग आदि का कथन प्रमुख है। दशवे अधिकार मे अष्टाग "गारुड़विद्या" का प्रतिपादन है। इसमे सर्प को वश मे करने, पकड़ने, निर्विष करने आदि के मत्र है। यहॉ नागप्रेषण, स्तम्भन, कुण्डलीकरण, कुभप्रवेशन, रेखा, विषभक्षण आदि का विस्तार से निरूपण किया गया है। ग्रन्थ के अन्त मे मत्रदान विधि कही गई है, इसमे सम्यक्त्व रहित पुरुष को मत्र देने का निषेध है।

ज्वालिनी कल्प

इसके कर्ता भी मल्लिषेण सूरि है। एच०आर० कापडिया ने इसका रचना काल वि०स० ११९० के लगभग माना है।[१६] प० जुगलकिशोर मुख्तार ने अनेकान्त वर्ष १ पृष्ठ ४२८ पर, जैनेन्द्रसिद्धान्त कोष भाग–३ पृष्ठ ३४३ पर तथा जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग–३ पृष्ठ २३० पर ज्वालिनी कल्प का उल्लेख है। इसमे ज्वालामालिनीदेवी की स्तुति है। यह इन्द्रनन्दि के ज्वालामालिनी कन्प से भिन्न है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति सेठ माणिकचन्द्र जी बम्बई के सग्रह मे होने की सूचना है।[१७]

सरस्वती कल्प

यह भी मल्लिषेण सूरि की रचना है। ग्रन्थ के आदि और अन्त मे इनका नामोल्लेख मिलता है। ग्रन्थ मे "सरस्वती कल्प" तथा "भारती कल्प" इन दोनो नामों का उल्लेख है। इसमे कुल ७८ पद्य तथा बीच-बीच में कुछ गद्य भी है। यह "भैरवपद्मावती कल्प" के ग्यारहवे परिशिष्ट के रूप मे प्रकाशित है। इसकी एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन, आरा के संग्रह में सुरक्षित है।[१८] ग्रन्थ मे साख्य, मीमांसक, चार्वाक, सौगत और दिगम्बरो का उल्लेख है, वे ज्ञान प्राप्त करने के लिए सरस्वती की आराधना करते हैं।[१९] सरस्वती के प्रसाद से सांसारिक लोग कवित्व, वाग्मित्व, वादित्व आदि प्राप्त करते हैं।

ग्रन्थ मे सरस्वती का स्वरूप, चिन्ह, साधक, साधन योग्य स्थान, आसन, सकलीकरण, पीठस्थापन आदि के मत्र तथा देवी का मूलमत्र बतलाया गया है। आगे सिद्धिविधान, शान्तिकयत्र, वश्ययंत्र, द्वादश रंजिकायत्र, सौभाग्यरक्षायंत्र आदि की लेखन एव प्रयोग विधि का विवेचन है। सरस्वती की सिद्धि का प्रयोग वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, उच्चाटन, मारण, शान्तिक, पौष्टिक आदि समस्त कार्यो मे किये जाने का उल्लेख है।

कामचाण्डाली कल्प

यह भी मल्लिषेण सूरि की अद्भुत रचना है। ग्रन्थोल्लेख के अनुसार वे रचना करते समय पूरी कृति को अपने मन मे अकित कर लेते थे, जिसे बाद मे भूमि के पत्थर पर यथावत् लिपिबद्ध करते थे। इससे उनकी स्मरण शक्ति का वैशिष्ट्य प्रकट होता है। इसका रचनाकाल भी लगभग वि०स० ११९० स्वीकार किया गया है।[२०] इसका दूसरा नाम सिद्धायिका कल्प भी कहा जाता है। इसके प्रकाशित होने की जानकारी नही मिली है। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार इसकी हस्तलिखित प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई मे उपलब्ध है।[२१]

ग्रन्थ पाँच अधिकारो मे विभाजित है। -(१) साधक (२) देवी का आराधन (३) अशेषजनवशीकरण (४) यंत्र-तत्र और ज्वालागर्दभ लक्षण।

ग्रन्थ में कामचाण्डाली की स्तुति करते हुए उसका स्वरूप इस प्रकार दिया है –

भूषिताभरणैः सर्वैर्मुक्तकेशा निरम्बरा।
पातु मां कामचाण्डाली कृष्णवर्णा चतुर्भुजा॥२॥
फलकांचकलशकरा शाल्मलिदण्डोद्धमुरगोपेता।
जयतात् त्रिभुवनवन्द्या जगति श्री कामचाण्डाली॥३॥[२२]

अर्थात् जो सब आभूषणों से भूषित है, वस्त्र–रहित नग्न है, जिसके शिर के बाल खुले हुए हैं, ऐसी श्यामवर्णा कामचाण्डाली मेरी रक्षा करे। जिसके हाथ मे फल, कॉच और कलश है, जो शाल्मलिदण्ड को लिये हुए है और सर्प से युक्त हैं, वह त्रिभुवन वन्दनीया कामचाण्डाली जयवत हो।

मंत्राधिराज कल्प

इसके कर्ता सागरचन्द्र है। इसका रचनाकाल वि० स० १२५० के आस–पास माना जाता है। यह ग्रन्थ "जैन स्तोत्र सन्दोह", भाग–२ में प्रकाशित है।[२३] चार सौ चौबीस पद्यो का यह ग्रन्थ पॉच पटलो में विभाजित है। प्रथम पटल मे पार्श्वनाथ को नमन एवं गुरु वन्दना करके रचना का उद्देश्य जिनभक्ति बत या है। प्रस्तावना के रूप मे मत्रदान विधि का निरूपण है। दूसरे पटल मे विषय निर्देश करते हुए मंत्राधिराज के बीजाक्षरो का प्रभाव कहा गया है। इसके पद्य–१३ मे अभय–देव सूरि का तथा १४ मे पद्मदेव का नामोल्लेख है। तीसरे पटल मे पार्श्वनाथ की स्तुति, १६ विद्यादेवियों, २४ तीर्थकरो की माताओं, उनके २४ यक्षों और यक्षियों का कथन किया गया है। अनन्तर तीर्थकरों के लांछन, उनके शरीर का वर्ण और ऊँचाई का निर्देश है। नवग्रहों और दशलोकपालो द्वारा तीर्थकरों की सेवा काने का उल्लेख है। चौथे पटल में सकलीकरण, भूमि, जल और वस्त्रशुद्धि के मंत्र, पाँच मुद्राएँ, आत्मरक्षा, पार्श्वयक्ष, पार्श्वयक्षिणी, धरणेन्द्र, कमठ, जया, विजया, पद्मावती और क्षेत्रपाल के मत्र बतलाये गये है। अनन्तर ध्यान, पूजन, जप और होम का निधान वर्णित है। पॉचवें पटल में ऋतुओं, योगो, आसनों, मुद्राओं और यंत्रो के विशिष्ट ध्यान आदि का निरूपण हुआ है।

मंत्रराज रहस्य

विबुधचन्द्रसूरि के शिष्य सिहतिलक सूरि इसके कर्ता है। ग्रन्थ का परिमाण आठ सौ श्लोक हैं। ग्रन्थ प्रशस्ति के अनुसार इसका रचनाकाल वि०सं० १३३२ है। ग्रन्थ पर 'लीलावती' नामक स्वोपज्ञ सस्कृत वृत्ति है। इसमे अनेक गच्छों के सूरिमंत्रो का संग्रह किया गया है। यहॉ सूरिमत्र के पॉच पीठ बताये हैं। ग्रन्थ मे एक हजार मंत्र होने का उल्लेख मिलता है।[२४] जिनरत्नकोष पृ० ३०१ पर भी इसका उल्लेख है।

वर्धमान विद्याकल्प

यह मंत्रराज रहस्य आदि के कर्ता सिहतिलक सूरि की रचना है। इसका रचना काल वि०सं० १३४० के लगभग है। ग्रन्थकार ने इसे अनेक प्रकरणो में विभक्त किया है। पहले तीन प्रकरणो में क्रमश ८९, ७७ और ३६ पद्य है। इस कृति मे सूरिमंत्र, कलिकुड पार्श्वनाथ मत्र, पचपरमेष्ठी मत्र, ऋषिमंडल स्तव–यत्र और कुछ अन्य मत्रो का निरूपण किया गया है। वर्धमान विद्या उपयोग दीक्षा, प्रतिष्ठा आदि कार्यो मे किया जाता है।[२५] जिनरत्नकोष पृ० ३४३–४४ पर भी इसका उल्लेख है।

अद्भुत पद्मावती कल्प

इसके कर्ता यशोभद्र उपाध्याय के शिष्य श्री चन्द्रसूरि है। एच०आर० कापडिया ने इसका रचनाकाल विक्रम की १४वी सदी लिखा है। ग्रन्थकार ने इसे छह प्रकरणो मे विभक्त किया है। इसके आदि के प्रथम दो प्रकरण अनुपलब्ध है। शेष "भैरवपद्मावती कल्प" के पहले परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित है। तीसरे प्रकरण मे सकलीकरण विधान, चौथे मे यंत्र सहित पद्मावती देवी की आराधना का क्रम, पॉचवे प्रकरण मे योग्य पात्र का लक्षण तथा छ्ठवें प्रकरण में बन्धन मत्र, परविद्याछेदन मत्र आदि कहे गये हैं। इसमें प्रत्यगिरा, अंबिका, ज्वालामालिनी और चक्रेश्वरी का उल्लेख है। ग्रन्थकार ने "इन्द्रनन्दि" का भी उल्लेख किया है और उन्हे "मन्त्रवादिविद्या–चक्रवर्तिचूड़ामणि" कहा है। यहाँ पद्मावती के विषय में कहा गया है कि हे देवि! तुम जैन परम्परा मे पद्मावती, शैवपरम्परा मे गौरी, बौद्धागम परम्परा मे तारा, सॉख्यागम मे प्रकृति, भाट्ट परम्परा में गायत्री, कौलिक सम्प्रदाय

मे वज्रा हो और सम्पूर्ण विश्व मे तुम्हारा यश व्याप्त है, इसलिए तुम्हें मेरा नमस्कार है।[२६]

सरस्वती कल्प

यह रचना गद्य–पद्यमय है। इसके कर्ता बप्पभट्टि सूरि है। प्रारम्भ मे सरस्वती की स्तुति की गई है। पश्चात् अर्चन मन्त्र, आत्मशुद्धि मंत्र, सकलीकरण, सारस्वत यत्र विधि कही गई है। आगे सरस्वती को सिद्ध करने की विधि वर्णित है। साथ मे बप्पभट्टिसूरि कृत आम्नाय भी है। यहाँ कहा गया है कि मूलमंत्र का एक लाख जाप तथा दशांश होम करने से सरस्वती सिद्ध हो जाती है। सरस्वती की सिद्धि से अद्वितीय विद्वत्ता प्राप्त होती है। इसका प्रकाशन "भैरवपद्मावती कल्प" में हुआ है।

चिन्तामणि कल्प

इसका प्रकाशन "जैनस्तोत्रसन्दोह" भाग–२ पृ० ३०–३४ पर हुआ है। इसमे कुल ४७ पद्य है। अन्तिम पद्य मे रचनाकार का नाम "धर्मघोष सूरि" लिखा है तथा उन्हे मानतुंग का शिष्य कहा गया है। इसमे पार्श्वनाथ को प्रणाम करके "चिन्तामणि कल्प" लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। इसमें साधक का स्वरूप, यन्त्रोद्धार और साधन की विधि बताई है। यह भी कहा है कि वशीकरण, स्तभन, मोहन, विद्वेषण और उच्चाटन कर्मो का मन मे विचार भी नहीं करना चाहिए, केवल धर्मवृद्धि कारक शान्तिक और पौष्टिकता का ही विचार करना चाहिए। एच०आर० कापडिया ने इसका समय १५–१६वीं सदी माना है।

रक्त पद्मावती कल्प

अज्ञात कर्तृक यह रचना–"भैरवपद्मावती कल्प" मे प्रकाशित है। यह केवल गद्यात्मक है। इसमे मत्र, यंत्र और पूजा की विशिष्ट विधि बतलाई गई है। यहाँ पद्मावती की सिद्धि को सर्वकर्मकर कहा गया है। यत्र को आकर्षणादि षट्कर्म कर बताया है। एच०आर० कापडिया ने पद्मावती की अनेक मूर्तियों का उल्लेख किया है।[२७] इसकी संवत् १७३८ की हस्तलिखित प्रति जैन सिद्धान्त भवन, आरा के संग्रह में है, जो अन्य प्राचीन प्रति पर से तैयार की गई है।

अम्बिका कल्प

इसके कर्ता शुभचन्द्र है। यह कल्प सात अधिकारो मे विभाजित हैं। इसकी एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि जैन सिद्धात भवन, आरा मे है।[२८] दिल्ली जिन ग्रन्थ रत्नावली पृ० १२१ एव जिनरत्नकोष, पृ० १५ पर भी इसकी सूचना है।

इनके अतिरिक्त मानतुंग का भक्तामर स्तोत्र, मलयकीर्ति का सरस्वती कल्प[२९], गणधरवलयकल्प, घटाकर्णवृद्धिकल्प, प्रभावती कल्प[३०], जिनप्रभसूरि का रहस्यकल्पद्रुम और शारदा स्तवन (सरस्वतमंत्र गर्भित), दुर्गदेव का मत्र–महोदधि, हेमचन्द्रसूरि का सिद्धसारस्वत स्तव, शुभसुन्दर गणिकृत यन्त्रमन्त्रभेषजादिगर्भित युगादिदेव स्तव, भद्रबाहु का उपसर्गहर स्तोत्र, मानतुगसूरि का नमिऊण अपरनाम भयहर स्तोत्र, पूर्णकलशगणि का स्तम्भनपार्श्व स्तवन, मानदेवसूरि का लघुशांति स्तव, अरिष्टनेमि भट्टारक का श्रीदेवता कल्प, अर्हद्दास का सरस्वती कल्प, सिहनन्दी का नमस्कारमन्त्र कल्प[३१], चक्रेश्वरी कल्प, सूरिमत्र कल्प, श्रीविद्या कल्प, ब्रह्मविद्या कल्प, रोगा महारिणी कल्प[३२] तथा पर्याप्त सख्या मे मत्र–स्तोत्र रचे गये हैं। इनमें अप्रकाशित ग्रन्थों की सख्या भी पर्याप्त है। अनेक अप्रकाशित ग्रन्थो की पाण्डुलिपियॉ ग्रन्थागारो मे उपलब्ध है, किन्तु समुचित देख–देख के अभाव में नष्ट हो रही हैं। अतः इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।

जैन परम्परा के विद्यानुवाद पूर्व एव चूलिकाओ मे उल्लिखित प्राचीन मंत्र–तंत्र और विद्याएँ तो प्राय: लुप्त हो गई। तद्विषयक जो साहित्य आज उपलब्ध हैं, वह तान्त्रिकयुग की देन माना जा सकता है। भारतीय इतिहास का वह ऐसा समय था जब चमत्कार को ही नमस्कार किया जाता था। उस काल मे जैन परम्परा पोषक भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उन्होने भी शक्तिधारक देवी–देवताओं (यक्ष–यक्षियों) की आराधना एवं सिद्धि द्वारा चमत्कार दिखलाये और साहित्य रचा। इससे जैन धर्मावलम्बियों को एक सूत्र में बांध कर रखा जा सका। सम्प्रति मंत्र–तंत्र विद्या के साधकों का जैनो मे अभाव होता जा रहा है। अतः पुनः इस विद्या के विलुप्त होने का संकट बढ़ता जा रहा है। इसकी रक्षा के लिए प्रयत्न आवश्यक है।

सन्दर्भ सूची

१. धबला पु.–१, पृ ११३ एवं १२१. जयधबला पु.–१, पृ. १३९ एवं १४४.
२. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, पृ. २५०
३. मगलमत्र णमोकार. एक अनुचिन्तन, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. १३२
४ एच०आर० कापडिया, जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग–३, प्रका मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा, सन् १९७० पृ. २२४
५ विद्याप्रवादपूर्वस्य तृतीयप्राभृतादयम्।
उद्घृत· कर्मघाताय श्रीवीरस्वामिसूरिभि ॥१/८.
६ यद् यद् विचिन्त्यते कार्य मनुजैरैहिलौकिकम्।
तत् तत् सम्पद्यते सद्यो मन्त्रस्यास्य प्रभावत.॥३/४०
७ अधिकार–५, श्लोक–१७
८. अष्टशतस्यैकषष्टि (८६१) प्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु।
श्रीमान्यखेटकटके पर्वण्यक्ष (य) तृतीयायाम्॥
ग्रन्थ प्रशस्ति, अनेकान्त, वर्ष–१ पृ ४३१ पर उद्घृत.
९ डॉ० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार, जैन सिद्धात भवन ग्रन्थावली, भाग–१, क्रमांक–६८१, जैन सिद्धांत भवन, आरा १९८७.
१०. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग–३ पृ. २२८.
११. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग–३, पृ. १८३.
१२. अनेकान्त, वर्ष–१, पृ. ४२९, वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली.
१३. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग–३ पृ. २२४–२५.
१४. जैन सिद्धांत भवन ग्रन्थावली, भाग–१, क्रमांक–७१९, भाग–२, क्रमांक–१३११.
१५. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग–३ पृ. २३२.
१६. वही, पृ. २३०.

१७. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग–३, पृ. १७६

१८. जैन सिद्धात भवन ग्रन्थावली, भाग–१, क्रमाक–७६५.

१९. साख्यभातिकचार्वाकमीमासकदिगम्बरा ।
सौगतास्तेपि देवि! त्वां ध्यायन्ति ज्ञानहेतवे ॥(१९)

२०. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग–३ पृ. २३४.

२१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग–३ पृ. १७७.

२२. अनेकान्त, वर्ष–१ पृ. ४३० पर उद्‌घृत।

२३. जैनस्तोत्र सन्दोह, भाग–२ सम्पादक, मुनि चतुरविजय, प्रकाशक–साराभाई मणिलाल नबा, अहमदाबाद, सन् १९३६.

२४. जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग–३ पृ. २३९

२५ वही, पृ. २४०

२६. जैने पद्मावतीति त्वमशुभदलना त्व च गौरीति शैवे,
तारा बौद्धागमे त्व प्रकृतिरिति मता देवि! सांख्यागमे त्वम्।
गायत्री भट्टमार्गे त्वमसि च विमले कौलिके त्व च वज्रा,
व्याप्त विश्व त्वयेति स्फुरदुरुयशसे मेऽस्तु पद्मे! नमस्ते ॥
–अद्भुत पद्मावती कल्प, ५/६.

२७. जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग–३, पृ २४३.

२८ जैन सिद्धात भवन ग्रन्थावली, भाग–१, क्र ५५०/२, पृ ९४ तथा २००.

२९. प० के० भुजबली शास्त्री, प्रशस्ति सग्रह, जैन सिद्धांत भवन, आरा, पृ ८५

३० जैन सिद्धात भवन ग्रन्थावली, भाग–१, पृ २५३ तथा जिनरत्नकोष, पृ २६६

३१. प० जुगलकिशोर मुख्तार, अनेकान्त वर्ष–१, पृ. ४३०.

३२. पं० के० भुजबली शास्त्री, जैन सिद्धात भास्कर, भाग–४ किरण–३, पृ. १३७

–व्याख्याता, प्राकृत एवं जैनशास्त्र
प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान,
वैशाली (बिहार)–८४४१२८

.....पृष्ठ २ का शेष

ग्रथ की उक्त टीका से 'इति' शब्द और विराम को हटाकर 'प्रत्युक्ताः' के स्थान पर 'प्रयुक्तः' कर देना–श्वेताम्बर ग्रथ को विरूप कर देना कहाँ तक उचित था।

प्रो० उदयचन्द्र दर्शनाचार्य के लेख से स्पष्ट है कि कथित विद्वान ने भी बौद्ध दर्शन के ग्रन्थ के उद्धरण को बदलकर प्रस्तुत करने का अनर्थ किया है और 'अह्रीका' को बदल 'आह्नीका ' कर दिया है। हमने राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित 'प्रमाणवार्तिक की टीका को भी देखा है। उसमे स्पष्ट अंकित है–**'अह्रीका नग्नतया निर्लज्जा क्षपणकाः।'** जबकि लेखक ने शब्द और अर्थ दोनों ही बदल दिए। पता नहीं इनकी साध किस किसको बदलने की है?

–सम्पादक

'अनेकान्त'

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु

वार्षिक मूल्य : ६ रु., इस अक का मूल्य १ रुपया ५० पैसे

यह अंक स्वाध्याय शालाओ एवं मंदिरो की माग पर नि:शुल्क

●

विद्वान लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक–मण्डल लेखक के विचारो से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एव समाचार प्राय: नही लिए जाते।

●

सपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, संपादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक : श्री भारत भूषण जैन एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली–२

मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली–३२

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष—५१ किरण—४ अक्टूबर-दिसम्बर १९९८

वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२
दूरभाष : ३२५०५२२

श्रद्धांजलि
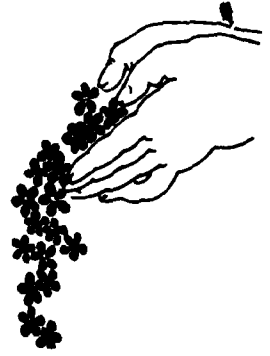
जन्म—1934 निधन—4-2-९५

साहू अशोक कुमार जैन कई वर्षो तक वीर सेवा मन्दिर के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे। वैसे भी साहू परिवार इस संस्था के आरम्भ से ही इससे जुडा रहा है। सस्था के वर्तमान भवन का शिलान्यास १६ जुलाई, १९५४ को साहू शान्तिप्रसाद जैन के कर-कमलों से सम्पन्न हुआ था।

अध्यक्ष पद छोडने के पश्चात् भी साहू अशोक कुमार जैन अपनी धार्मिक व साहित्यिक अभिरुचि के कारण जीवनपर्यत इस शोध सस्थान से सम्बद्ध रहे। स्वाध्याय और जिज्ञासु मन को शान्त करने के लिए वीर सेवा मन्दिर से समय-समय पर महत्वपूर्ण ग्रथ मगाते थे।

उनकी इस स्वाध्याय प्रवृति को जागृत करने मे आचार्य श्री धर्मसागर जी की प्रेरणा मुख्य रुप से महत्वपूर्ण साबित हुई। मुझे याद है कि लूणवा तीर्थ क्षेत्र पर जब अशोक जी का परिचय आचार्य श्री से कराया गया कि इन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासी होने के नाते विपुल साहित्य छपवाया है, तब आचार्य श्री ने कहा था कि स्वकल्याण तो बाचने से होगा मात्र छापने से नही। उसके बाद जैसे–जैसे मेरा सम्पर्क उनसे बढा तो मैने पाया कि उनकी स्वाध्याय प्रवृति निरन्तर बढ रही है और उन्होने इस प्रवृति को अपने अन्त समय तक बनाए रखा।

यद्यपि आज हमारे बीच उनका नश्वर शरीर नहीं है किन्तु उनके द्वारा स्थापित अनेक धार्मिक और सामाजिक कीर्तिमान तथा गतिशील नेतृत्व की छाप समाज को गति प्रदान करती रहेगी। दिवगत आत्मा की सद्गति हेतु विनम्र श्रद्धांजलि के साथ,

सुभाष जैन
महासचिव, वीर सेवा मदिर
२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

अनेकान्त

वर्ष ५१	वीर सेवा मंदिर, २६ दरियागंज, नई	अक्टूबर–दिसम्बर
किरण ४	वी नि.स २५२४ वि स २०५४	१६६८

परम दिगम्बर-गुरु

बसत उर गुरु निर्ग्रन्थ हमारे।
प्रजली ध्यान अगनि जिनके घट विकट मदन बन जारे।
तजि चौबीस प्रकार परिग्रह पच महाव्रत धारे।

पच समिति गुपति तीन नयोयुत त्रस थावर रखवारे।
शुद्धोपयोगपरिपूरन अधरम चूरन हारे।।
बसत उर गुरु निर्ग्रन्थ हमारे।।

रत्नत्रय मण्डित तप सजम सहित दिगम्बर धारे।
भूख तृषादिक सहल परीषह तीन भवन उजियारे।।
बसत उर गुरु निर्ग्रन्थ हमारे।।

मन वच काय निरोध सोधि तिन भवभ्रम सब तजि डारे।
स्वपर दया सुख सिन्धु गुनाकर सील धुरधर धारे।।
बसत उर गुरु निर्ग्रन्थ हमारे।।

'देवियदास' गह्यो तिनको पथ, तिन्हि तिन्हि ने सब तारे।।

ये प्रायोजित तीर्थ ?

तीर्थं करोतीति तीर्थंकर :-तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थकर होते हैं। जिनशासन के लिए २०वीं शताब्दी, विशेष रूप से अन्तिम डेढ दशक उल्लेखनीय और स्मरणीय माने जायेंगे क्योकि बीते लम्बे समय मे शायद ही इतने तीर्थ बने हो जितने गत डेढ दशक में बने है या आगे निर्मित होंगे।

प्राचीन तीर्थो को कब और किसने बनाया यह आज भी शोध और खोज का विषय है। उनके तीर्थक्षेत्र होने और उनकी प्रसिद्धि के विषय मे पौराणिक आख्यान उपलब्ध भी होते हो, परन्तु अब जो बन रहे हैं उनके पीछे कौन से पौराणिक-आगमिक आख्यान है ? नये तीर्थो से धर्म की प्रभावना कम बल्कि व्यक्तिनिष्ठ ख्यातिलाभ की तृष्णा की भावना ही ज्यादा झलकती है। विडम्बना तो यह है कि इन नये तीर्थो का निर्माण अपरिग्रही ज्ञान-ध्यान-तप में लीन रहने वाले उन योगियो द्वारा हो रहा है, जिन्होने आत्मकल्याण की चाह मे समस्त परिग्रह को छोडकर तथा निर्ग्रन्थ वेश धारण कर वीतराग मार्ग को अपनाया था।

नए कुछ सभावित तीर्थो की स्थापना चिन्तनीय है इन नए तीर्थो के लक्ष्य और अभीष्ट भी भिन्न-भिन्न होगे ही। यक्ष प्रश्न है कि जब हमारे सम्मुख प्राचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार, रख-रखाव और उनकी सुरक्षा से जुडी समस्याये विकराल रूप मे मौजूद हैं तब इन नए-नए तीर्थो की स्थापनाओं और उनके प्रस्तावों से जिन-शासन की क्या प्रभावना होगी ? यह सोचना निरर्थक नही है क्योकि इन प्रस्तावित तीर्थो की स्थापना के पीछे प्रदर्शन और प्रतिष्ठा की चाह स्पष्ट रूप से लक्षित होती है।

हमें कभी-कभी लगता है कि जिनके धन से इन तीर्थों का निर्माण और नित नए पचंकल्याणक आदि हो रहे हैं उनके नाम पर ही कल को तीर्थ न बनाये जाने लगे। पचकल्याणक जेसे आयोजनो में धर्म-प्रभावना तो न के बराबर होती है जबकि इनमे आय के स्रोत ढूँढ़कर नाम लाभ

का गुणा-भाग अधिक होता है। कमीशन आज की सबसे बडी जरूरत हो गई है, सो इस क्षेत्र मे भी इसकी हिस्सेदारी तय होती होगी ? कुल मिलाकर प्रतीत होता है कि जैसे कुछ व्यक्तियो ने कोई इण्डस्ट्री खोल रखी हो जिसमे तीर्थ और पचकल्याणक आदि के माध्यम से समाज के धन का उपयोग किया जा रहा है। यह बात अलग है कि इन प्रायोजित तीर्थों और पंचकल्याणको से न समाज का भला होता है और न जिनशासन की प्रभावना। आगे इनकी महिमा सम्मेदशिखर या प्राचीन तीर्थो जैसी हो सकेगी इसमें भी सन्देह है क्योकि प्राचीन तीर्थ तो त्याग तपस्या के कारण पूजनीय माने जाते है और इन नए तीर्थो की पूज्यता का आधार पराया धन है। भला, जो सब तरह से अपरिग्रही हो ऐसे मे वे परिग्रह के पाप से बच सकते हैं क्या ? इसे सिद्धान्त ग्रन्थो मे खोजने की आवश्यकता है। हमें लगता है कि तीर्थकरवत् बनने की लालसा मे नित नए तीर्थो की जो स्थापना की जा रही है वह सर्वथा अप्रासगिक और धर्म के विपरीत है।

आगमनिष्ठ-विभूति का अवसान

प्रो. खुशालचन्द गोरावाला, (वाराणसी) के निधन का समाचार सुनकर वीर सेवा मन्दिर परिवार स्तब्ध रह गया। जैन सघ समर्पित, स्वतन्त्रता सेनानी, आगमनिष्ठ **प्रो. गोरावाला** विद्वानो की उस पंक्ति की विभूति थे, जिन्हे मान–सम्मान, लोकेषणा, धनलिप्सा से अधिक आगम रक्षा का भाव रहता था। शौरसेनी भाषा की बलात् स्थापना और प्रभावना को आगम परम्परा के लिए आत्मघाती कदम निरुपित कर उन्हे समय प्रमुख आचार्य से दो–टूक बात करने मे कोई झिझक नहीं हुई। **'स्वभावो हि दुरतिक्रमः'** की प्रतिमूर्ति को आगम परिप्रेक्ष्य में निर्णीत सन्दर्भो मे कोई भी उन्हें डिगा नही सका। ऐसे परम्परा निष्ठ पू सन्त गणेश प्रसाद जी वर्णी के शिष्य, धर्माचरण में प्रवृत्त दिवगत मनीषी विद्वान् प्रो गोरावाला के प्रति वीर सेवा मन्दिर की विनम्र श्रद्धाञ्जलि।

– **संपादक**

कैन्सर में तब्दील होती शौरसेनी की गाँठ

—पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

हमने दो दशक पूर्व से सावधान किया था और अब तक करते रहे है कि कोई हमारे आगमो से खिलवाड न करे—न भाषागत सशोधन करे। सशोधन के नाम पर जो भी दिया जाए टिप्पण मे दिया जाए। जिसकी सम्पुष्टि अनेक विद्वानो द्वारा की गई। उक्त कथन हमने तब किया जब प्राकृत को व्याकरण पुष्ट मानकर दिगम्बर-आगमो की भाषा को शौरसेनी घोषित किया गया।

सभी जानते है कि श्वेताम्बरो ने अपने आगमो को भगवान महावीर और मूलाचार्य गणधर की भाषा को अर्धमागधी घोषित कर रखा है। हालॉकि वे आगम वास्तव मे अर्धमागधी मे नही अपितु जैन महाराष्ट्री भाषा मे निबद्ध किए गए है और आचार्य हेमचन्द्र ने तदनुसार ही व्याकरण की रचना की है। वास्तव मे तो दिगम्बर आगम ही अर्धमागधी के है और व्याकरण से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यत· प्राकृत प्रकृति की बोली है—व्याकरणादि द्वारा सशोधित (सस्कारित) नहीं, जैसा कि ताण्डव रचा जा रहा है। क्योकि सभी व्याकरण बाद की रचनाएँ हैं। आगम भाषा के विषय मे हमारे आगमो मे कहा गया है —

'अर्ध च भगवद्भाषाया मगधदेश भाषात्मकं अर्ध च सर्वभाषात्मकम्'

-दर्शनपाहुड टीका, ३५/३८/१३

'अट्ठारस महाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा'

-तिलोयपण्णत्ति/५८४/६०

'ण च दिव्वज्झुणी अणक्खरप्पिया चेव अट्ठारस सत्तसयभास कुभासप्पिय'

-धवला ६/४/४४ पृ १३६

'तववागमृतं श्रीमत्सर्वभाषा स्वभावकम्।
प्रणीत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि।।

-बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र ६७, अरहनाथस्तुति

परम्परित पूर्वाचार्यो के उक्त कथनो के आधार पर हम दावे के साथ, दिगम्बर-आगमो की भाषा को अर्धमागधी ही मानते है और जो लोग उक्त कथनो के आधार को झुठलाकर अर्धमागधी से मुँह मोडकर आगमभाषा को मात्र शौरसेनी प्रचारित करते है वे उक्त आचार्यो को मिथ्या सिद्ध कर अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने का प्रयत्न कर रहे हैं। पूजा मे भी कहा है –

'दश अष्टमहाभाषा समेत लघुभाषा सात शतक सुचेत।'

देवो के द्वारा किए गए अतिशयो मे भी वर्णन है–**'देवरचित हैं चारदश अर्धमागधी भास'** जिसे अब शौरसेनी मे व्याकरण की दुहाई देकर बदला जा रहा है, जो कि दिगम्बरत्व को घातक होगा। यदि आगमभाषा शौरसेनी है तो किसी भी दिगम्बर-आगम मे या अतिशयो मे इसका उल्लेख होना चाहिए। क्या अतिशयो मे कही ऐसा कहा है–**'देव रचित हैं चारदश शूरसेन की भास'** परन्तु हमारे देखने मे तो ऐसा नही आया और जब आगम मे ऐसा नही है तब हम किसी भाँति भी मानने को तैयार नही कि दिगम्बर आगमो की भाषा शौरसेनी है।

विगत में श्रुतपचमी के अवसर पर पद्मपुराण के निम्नलिखित श्लोक के द्वारा शौरसेनी की यद्वा तद्वा पुष्टि की गई –

नामाख्यातोपसर्गेषु निपातेषु च संस्कृता।
प्राकृती शौरसेनी च भाषा यत्र त्रयी स्मृताः।। २४।। ११

उस समय भी हमने लिखा था "उक्त श्लोक तीर्थकर मुनिसुव्रत के शासनकाल मे उत्पन्न केकयी के भाषा ज्ञान के सबध मे है कि उक्त तीनों (सस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी) भाषाओं को जानती थी। पर शौरसेनी प्राकृत पोषको को शौरसेनी शब्द से ऐसा लगा कि यह शौरसेनी प्राकृत है। जबकि वह भाषा प्राकृत से भिन्न शौरसेनी थी। यदि प्राकृत होती तो प्राकृत शब्द में गर्भित हो जाती उसका पृथक् कथन न होता। बस, इन्होने उस शौरसेनी को अपनी अभीष्ट प्राकृत के भेद के रूप में प्रचारित कर दिया।" जबकि तीर्थकरो की देशना मे एकरूपता का कथन शास्त्रो में मिलता है। क्या मुनिसुव्रतनाथ और बाद के किसी तीर्थकर ने शौरसेनी मे देशना दी थी और वहॉ देवकृत १४ अतिशयों मे अर्धमागधी के स्थान पर शौरसेनी का कहीं उल्लेख है ? क्या देव अतिशय बदलते रहते है ? अस्तु।

कुछ लोग शौरसेनी के व्यामोह में मूल को ही नष्ट करने की प्रक्रिया मे जा रहे है। 'णमोकार मत्र' मूल और अनादिनिधन मत्र है जिस पर हमारी अटूट श्रद्धा है और इसी पर जिनशासन टिका है। यदि शौरसेनी-करण का राग अलापते रहे तो वह मूलमत्र भी खटाई मे पड जायेगा क्योकि दिगम्बर आगमो की मूल परम्परित प्राचीन भाषा को शौरसेनी घोषित करने वाले व्याकरण पक्ष व्यामोही व्यक्ति, अपनी मान्यता की कसौटी मगलाचरण मूलमत्र मे ढूँढकर बताये कि उक्त मगलाचरण में कितने पद शौरसेनी व्याकरणसम्मत हैं और णमोकार मन्त्र क्यों दिगम्बरों द्वारा मान्य है ? पाठक विचार करे -

'णमो अर (अरि) हंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

उक्त मूलमत्र जैनियों के सभी सम्प्रदायों में मान्य है। प्रायः अन्तर केवल 'न' और 'ण' का है। जहॉ दिगम्बरो में 'णमो' प्रचलित है, वही श्वेताम्बरों मे प्रायः 'नमो' बोला जाता है। व्याकरण मान्यता वालो की दृष्टि से देखा जाय तो उनकी दृष्टि मे **जितने भी प्राकृत व्याकरण हैं, उनमें**

'संस्कृत शब्दों से प्राकृत बनाने के नियम दिए हैं'—(प्राकृत विद्या ६/३) के अनुसार ऐसा शौरसेनी व्याकरण का कौन-सा सूत्र है, जो 'न' को 'ण' कर देता हो ? अन्य प्राकृतों में तो 'न' को 'ण' करने के हेमचन्द्र के सूत्र 'वाऽऽदौ' ८/१/२२६ और 'नो णः' ८/१/२२८ और प्राकृत प्रकाश का सूत्र 'नो णः सर्वत्र' २/४२ हैं। क्या शौरसेनी पक्ष व्यामोहियों को इनका हस्तक्षेप स्वीकार है ?

'आइरियाणं' शब्द संस्कृत के आचार्य शब्द से बना है। शौरसेनी के विशेष सूत्रों में ऐसा कौन-सा सूत्र है जो 'चा' को 'इ' में बदल देता है ? अन्य प्राकृत नियमों में हेमचन्द्र का 'आचार्ये चोऽच्च' ८/१/७३ सूत्र है जो 'चा' को 'इ' में बदल देता है। क्या शौरसेनी में इसका दखल स्वीकार है ?

तीसरा शब्द 'लोए' है (जिसे लोगे भी बोला जाता है) क्या शौरसेनी मे 'क' को 'ग' करने का कोई सूत्र है ? हॉ, अपभ्रश में **'अनादौ स्वरादनुक्तानां क ग त थ प फां ग घ द ध बभाः**—हेम. ८/४/३६६ सूत्र अवश्य है जो 'क' को 'ग' कर देता है। क्या शौरसेनी मे उसका दखल स्वीकार है ? व्याकरण के नियम से लोये बनने का तो प्रश्न ही नहीं। यतः लुप्त व्यंजन के स्थान पर 'य' श्रुति होने का विधान वहीं हैं जहॉ लुप्त व्यंजन के पूर्व मे 'अ' या 'आ' हो, देखे—हेम. ८/१/१८० 'अवर्णो य श्रुति।' यहॉ तो लुप्त वर्ण से पूर्व ओ है।

चौथा शब्द 'साहूण' है, जो सस्कृत के साधु शब्द से निष्पन्न है। क्या शौरसेनी में कोई सूत्र है जो 'ध' को 'ह' में बदल देता हो ? अन्य प्राकृतो में तो हेमचन्द्र का सूत्र 'ख घ थ ध भाम्' ८/१/१८७ है जो 'ध' को 'ह' में बदल देता है। क्या उक्त रूपों में शौरसेनी वालों को उक्त सूत्रों के दखल स्वीकार हैं ? यदि हॉ, तो भाषा मिश्रित हुई और नहीं तो शौरसेनी के स्वतंत्र नियम कौन-से हैं ? जो वैयाकरणों ने विशेष रूप में दिए हों ? उक्त विषय में विचार इसलिए भी जरूरी है कि उक्त मन्त्र को सभी जैन सम्प्रदाय वाले मान्य करते हैं और शौरसेनीकरण की मुहिम के कारण यह मंत्र विवाद में पडने वाला है। आगे चलकर हमारे

बच्चे यह न कहने लगें कि चूँकि दिगम्बरो की भाषा शौरसेनी है और णमोकार मत्र शौरसेनी मे नहीं है अतः हम इसे क्यों बोले ? क्यो श्रद्धा करे ? आदि-आदि प्रश्न शौरसेनी की जबरन मुहिम के कारण उठने की सम्भावना है।

श्वेताम्बर मुनि गुलाबचन्द निर्मोही ने 'तुलसी प्रज्ञा' के अक्टूबर-दिसम्बर ९४ के अक मे पृष्ठ १९० पर लिखा है 'जैन तीर्थंकर प्राकृत अर्धमागधी' में प्रवचन करते थे उनकी वाणी का संग्रह आगम ग्रन्थो में ग्रथित हुआ है। श्वेताम्बर जैनों के आगम ....अर्धमागधी भाषा में रचित हैं। दिगम्बर जैन साहित्य षट्खण्डागम, कसायपाहुड, समयसार आदि शौरसेनी में निबद्ध हैं,' इसी लेख में पृ. १८२ पर उन्होने व्याकरण रचयिता काल (भाषाभेदकाल) भी दिया है जिसका प्रारम्भ २-३ शताब्दी दिया है। यह सब दिगम्बर-आगमो को तीर्थकरवाणी बाह्य और पश्चाद्वर्ती सिद्ध करने के प्रयत्न हैं। **श्वेताम्बर तो यह चाहते ही हैं कि दिगम्बरों में शौरसेनी विधिवत् महिमामण्डित हो क्योंकि इससे उनके अभीष्ट की सिद्धि होगी। और दिगम्बरों में शौरसेनी की बलात् स्वीकारोक्ति के प्रति बढ़ता दबाब कालिदास की याद दिलाता है जो जिस डाल पर बैठे थे उसी को काट रहे थे** और ये शौरसेनी के पक्षधर भी पूर्वाचार्यो को झुठलाकर श्वेताम्बर मत की पुष्टि कर रहे हैं। जबकि हमारे आगम गणधरवाणी **दृष्टिवाद** से उद्भूत हैं और उनके पश्चाद्वर्ती कोरी वाचनाओं से उत्पन्न हैं। यदि इस मुहिम को तुरन्त शान्त नहीं किया गया तो यह **शौरसेनी की छोटी-सी गाँठ कैन्सर का रूप धारण करने वाली है।** हालाँकि अनेकों डाक्टर उसे कैन्सर के बीभत्स स्वरूप होने से बचाने में जी जान से जुटे हुए हैं। काश वे सफल होते लेकिन हठधर्मिता ही सबसे बड़ी बाधा है। हालाँकि पुरस्कार की प्रत्याशा में अनेक वरिष्ठ और गरिष्ठ विद्वान् पंक्तिबद्ध कतार में खड़े होंगे। पुरस्कृत जिन डॉ. सा. से शौरसेनी भाषा के मूल होने की पुष्टि कराई थी वे लाडनूं की 'प्राकृत भाषा संगोष्ठी' में उक्त स्वीकृति से सर्वथा मुकर गए और उन्होंने कहा कि आचारांग, सूत्रकृतांग और दशवैकालिक में अर्धमागधी भाषा का सर्वोत्कृष्ट रूप

है। डॉ. शशिकान्त जैन ने भी शोधादर्श अक ३६ पृष्ठ २६१ पर ठीक ही लिखा है "-----जून १६६५ में शौरसेनी प्राकृत को ही मूल प्राकृत सिद्ध करने की हठधर्मिता ने श्वेताम्बर आम्नाय के साधु और विद्वानो की अर्धमागधी (जिसमे श्वेताम्बर आगम निबद्ध है) को प्राचीनतर और महावीर की मूल प्राकृत सिद्ध करने मे लामबन्द कर दिया।"

नि.संदेह डॉ टाटिया की चाल काम कर गई। उन्होने इन्हे शौरसेनी में समर्थन दिया ताकि ये इसमे दृढ रहे—और श्वेताम्बर आगम पूर्ववर्ती सिद्ध हो। बस, उनका काम हो गया और लाडनूँ जाकर वे वचनो से बदल गए और ये शौरसेनी के गीत गाते रहे। जिसका परिणाम ये बदलता कैन्सर है।

वस्तु स्थिति को नकारने की हठधर्मिता का भयावह रूप अब सामने आने लगा है। लोगो ने सर्वज्ञ वाणी से परम्परित गुम्फित आगमो को शिलालेखो जैसे अस्पष्ट आधारो से प्रमाणित करना शुरू कर दिया है। कुछ दिन पहले हमे एक लेख सपादक—तुलसी प्रज्ञा का मिला था, जिसमे खारवेल के शिलालेख से आगमिक 'न' और 'ण' की सिद्धि का उल्लेख था। हमने सम्पादक महोदय को लिखा कि सभी के आगम सभी को स्वत:प्रमाण होते हैं—आगमो को पर से प्रमाणित करने की बात आगमो में अश्रद्धा करना है। आदि। हम ठीक नही समझते कि अल्पज्ञ से सर्वज्ञ की वाणी को प्रमाणित कराया जाए जैसाकि चलन बन गया है। काश! मान ले कि खारवेल सर्वज्ञ थे और उनकी वाणी शिलालेख पर ठीक से उत्कीर्ण हुई है तो टंकित **सवसिधानं** को भी मान्यता देकर हमारे प्रचलित मंत्र में उक्त पद मान लेना चाहिए पर ऐसा सम्भव नहीं। इसे न श्वेताम्बर स्वीकारेगे और न दिगम्बर। आखिर अपने-अपने ढंग मे उक्त मंत्र दोनो का है। किसी खास भाषा या व्याकरण से इसका सबध नहीं—यह तो अभेद प्राकृत का है। किसी विभक्त एक भाषा का नही और यही भाषा जिसे अर्धमागधी कहा जा रहा है दिगम्बर आगमों की भाषा है। वही हमे स्वीकार है और इससे ही हमारे परम्परित पूर्वाचार्यो में हमारी श्रद्धा जगती है। • •

समसामयिक सन्दर्भो में मुख्तार सा. की कालजयी दृष्टि

—डॉ. सुरेशचन्द्र जैन, नई दिल्ली

विद्वानेव, जानाति विद्वज्जन परिश्रमम्।

मुख्तार उपनाम से विख्यात श्री जुगलकिशोर जी की साहित्य साधना, जिन-आगमो के सत्यान्वेषण की उत्कट इच्छा के साथ विशिष्ट सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय सर्वोन्नति-भावना की सर्वोच्च दृष्टि का होना उनका विशिष्ट अवदान है। सामाजिक चेतना दृष्टि का विकास व निर्माण समाज में प्रचलित धारणाओं-विश्वासो रूढियों के मध्य चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व के रूप में प्रकट होता है। मूलत: समाज व्यक्तियो का समूह है और समाज मे प्रचलित धारणा सास्कृतिक चिन्तन से जुडी होती है या जोड दी जाती है। कालान्तर मे यही धारणाएँ स्वार्थ व रूढियो मे परिवर्तित होकर सास्कृतिक सामाजिक चिन्तन को या तो दूषित करती है या समाप्तप्राय करने मे प्रवृत्त हो जाती है। इन सभी अन्तर्द्वन्द्वों के मध्य ही व्यक्ति और समाज अपनी प्रगति का मार्ग चुनता है। आपाततः किसी भी व्यक्ति या समाज की प्रगति और समुन्नति का आधार उसकी विहंगम दृष्टि पर केन्द्रित होती है। यथा-दृष्टिः तथासृष्टिः से समाज व देश गतिमान होता है। इस परिप्रेक्ष्य मे मुख्तार सा की दृष्टि शुद्ध तार्किक न होकर आगमनिष्ठ, व्यवहारिक एव सवदेनाओ से परिपूर्ण थी। उन्होंने आगम और तन्निहित तथ्यों-कथ्यों को सत्यान्वेषी दृष्टि से खोजा और उसका प्रतिपादन भी पूरी निष्पक्षता के साथ किया।

क्रान्तिद्रष्टा-सर्वोदयी दृष्टि

मुख्तार सा. बचपन से ही विलक्षण तर्कशक्ति सम्पन्न थे। समाज और राष्ट्र की तत्कालीन परिस्थितियों से उनका व्यक्तित सामञ्जस्य स्थापित कठिन हो रहा था। ऐसे ही समय मे जब सन् १६१४ मे महात्मा गाधी के नेतृत्व में सत्याग्रह अनुप्राणित स्वतन्त्रता आन्दोलन ने जोर पकडा तो उन्होने भी मुख्तारगिरी छोडकर सामाजिक-धार्मिक सत्याग्रह पर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया। उनका दृढ विश्वास था कि सत्याग्रह आन्दोलन की सफलता सामाजिक और धार्मिक धरातल पर वास्तविक ठोस परिवर्तनो पर निर्भर है। अन्धश्रद्धा और कुरीतियों मे जकड़ा समाज सत्याग्रह जैसे आन्दोलन मे तभी सक्रिय हो सकता है जब उसमे कुरीतियो और अन्धश्रद्धा से लडने का जज्बा पैदा हो। इस सन्दर्भ मे मर्मान्तक चोट करते उनके लेख "जैनियो मे दया का अभाव" 'जैनियो का अत्याचार', 'नौकरो से पूजा कराना', 'जैनी कौन हो सकता है', 'जाति पचायतो का दण्ड विधान' आदि सामाजिक क्रान्ति दृष्टि के सूचक है। मुख्तार सा. का यह विश्वास था कि व्यक्ति इकाई के सुधार से ही समाज का पुनरुत्थान सम्भव है। जब तक समाज अन्तर्विरोध, रूढियो और अन्धविश्वासो की चहारदीवारी मे कैद रहेगा तब तक न व्यक्ति की चेतना जागेगी और न ही उसमे राष्ट्र के प्रति समर्पण का भाव जागेगा। सन् १६१६ मे मुख्तार सा (युगवीर) द्वारा रचित 'मेरी भावना' पद्यांश उनकी उदात्त, सर्वोदयी और व्यक्तिनिष्ठ क्रान्ति का द्योतक है–

मैत्रीभाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे,
दीन दुखी जीवों पर मेरे, उर से करुणास्त्रोत बहे।
दुर्जन-क्रूर कुमार्गरतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्यभाव रक्खुं मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे।।

श्रमण संस्कृति की सर्वोदयी भावना का प्रतीक यह पद्याश केवल कविकृत कल्पना की सृष्टि नही वरन् तत्कालीन सामाजिक विषमताओं

के मध्य धार्मिक अनुचिन्तन की फलश्रुति थी। सामाजिक जीवन मे यथार्थ अन्तर्विरोधो को उजागर करता कविहृदय 'समताभाव' की सर्वोदयी भावना अभिव्यक्त करता है। यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी के आलोक मे मुख्तार सा ने सामाजिक चिन्तनधारा को धार्मिक धरातल से जोडने मे सेतुबन्ध का कार्य किया है। इतना ही नही, धार्मिक धरातल पर फैली अनेक विसंगतियो पर इतनी गहरी चोट की थी कि तत्कालीन धर्मान्ध रूढिग्रस्त सामाजिको मे रोष व्याप्त हो गया था लेकिन उन्होंने उसका सामना आगमनिष्ठ तार्किक दृष्टि से किया। अपनी सत्यान्वेषणपरक दृष्टि और तज्जन्य अवधारणाओ से उन्हे कोई कभी भी विचलित नही कर सका।

आचार्य समन्तभद्र की बहुमूल्यवान् कृति 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' पर भाष्य स्वरूप 'समीचीन धर्मशास्त्र' के रूप मे प्रकाशन हुआ तो अनेक परम्परागत विद्वानो और साधुवर्ग ने नाम परिवर्तन को लेकर अनेक आरोप-प्रत्यारोप किए, परन्तु वे अडोल और अकम्प बने रहे। स्वातन्त्र्योत्तर काल की चतुर्दिक आर्थिक, भौतिक प्रगति ने भारतीय सामाजिक परिवेश को जिस द्रुतगति से प्रभावित किया है, उससे आज सभी परम्पराएँ हतप्रभ है। श्रमण सास्कृतिक परम्परा भी देश की आर्थिक राजनीतिक एव नैतिक अध पतन की दिशा की ओर अभिमुख है जिससे सभी मे चिन्ता व्याप्त है।

मुख्तार सा ने तो आ समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 'देशयामि समीचीन धर्म कर्म निबर्हणम्' को आधार बनाकर उपर्युक्त नाम रखा था, परन्तु आजकल 'किसने मेरे ख्याल मे दीपक जला दिया' 'वो लडकी' जैसी कृतियाँ धार्मिक कृति के रूप मे घर-घर पहुँचाने का उपक्रम किया जा रहा है। भगवान महावीर तथा परवर्ती आचार्यों के नाम पर गुरु-शिष्य परम्परा से यद्वा तद्वा प्रतिष्ठापन का कार्य चल रहा है। इसे कालदोष की सज्ञा दी जाए या विचारशून्यता अथवा निहित स्वार्थान्ध वृत्ति का सूचक माना जाए। यह चिन्तनीय है।

सामाजिक चेतना एवं धार्मिक न्याय के पक्षधर

सतत जागरूकता जीवन्त समाज की रीढ है और यह जागरूकता सामाजिक चेतना के कारण आती है। सामाजिक चेतना को स्फूर्ति प्रदान करने में सामाजिक न्याय की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भारतीय सविधान भी सामाजिक न्याय की महत्ता को स्वीकार करता है, परन्तु वास्तविक जीवन में सामाजिक न्याय से समाज व देश अभी भी कोसो दूर है। मुख्तार सा की दृष्टि में सामाजिक न्याय मात्र वचन तक सीमित नही होनी चाहिए वरन् वास्तविक जीवन मे जीवन्त होनी चाहिए। यद्यपि वे कृपण थे परन्तु अन्याय उन्हे मनसा वाचा कर्मणा सह्य नही होता था। मेरी भावना मे ही उनके निःस्वार्थ न्यायप्रियता की एक झलक मिलती है –

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षो तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्यायमार्ग से मेरा कभी न पग डिगने पावे।।

उपर्युक्त पद्याश उनकी न्यायप्रियता की ससूचक ही नही है अपितु श्रमण सस्कृति के सर्वोच्च आदर्श और मानदण्ड-निर्भयता, निर्लोभवृत्ति, सत्याचरण को आत्मसात् करता हुआ तथा तदनुरूप बनने के लिए प्रेरित करता है। आज के सन्दर्भ मे उक्त मानदण्ड मात्र चर्चा के विषय रह गए हैं या आदर्श वाक्य मे प्रयुक्त होने तक ही उनकी सीमा रह गई है। सम्पूर्ण राजनैतिक-सामाजिक परिवेश लोभ मे आकण्ठ निमग्न है और अब तो धार्मिक क्षेत्र भी पूरी तरह लोभ से आवृत्त हो चुका है। यद्वा तद्वा व्याख्याये, भाष्य और कल्पित अवधारणाओ को आगम के परिप्रेक्ष्य मे सुस्थापित करने का विधिवत् सुनियोजित दुष्चक्र प्रवहमान है। इस दुश्चक्र के मूल में है – धर्म की आड मे धनार्जन एव ख्याति की प्रबल आकाक्षा। इस अतृप्त आकांक्षा को पूरा करने के लिए यथातथ्य रूप मे कथनशैली का अभाव तो हो ही रहा है साथ ही

सत्याग्रही दृष्टि और सत्याग्रह-भाव भी तिरोहित हो रहा है। धन और ख्याति का व्यामोह कालदोष के ब्याज से यथार्थ तथ्य-कथ्य को समाप्त कर रहा है और आज का विद्वत्वर्ग कारवा गुजर जाने की बाट जोह रहा है। वह हर प्रसंग को ऊपर से गुजर जाने देने में विश्वास कर रहा है। ऐसी स्थिति में आगम रक्षा का पूरा भार यतिवर्ग ढो रहा है, जिससे उनकी साधना का भी स्खलन हो रहा है और विज्ञजन गहरी निद्रा में सोया हुआ है।

ग्रन्थपरीक्षा-सम्यग्दृष्टि का पाथेय

मुख्तार सा. ने इस ग्रन्थ के माध्यम से तत्कालीन प्रभावी भट्टारक परम्परा में भट्टारकों द्वारा जैन सन्दर्भों में अपमिश्रण किये गए अनेक वैदिक प्रसंगों को सप्रमाण उद्घाटित किया था। परिणामस्वरूप उन्हें खत्म कर देने तक की धमकी दी गई, जिसका उन्होंने दृढ़ता से सामना किया।

आज प्रगट में भट्टारक परम्परा का अस्तित्व उस रूप में तो नहीं है जिस रूप में अतीत काल में था, फिर भी आजकल अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनमे अपमिश्रण का कार्य धर्म और परम्परा की ओट में किया जा रहा है और उस ओर विज्ञ-जनों की गजनिमीलक दृष्टि निश्चित ही हास्यास्पद और चिन्तनीय है। कही रजनीश साहित्य का अपमिश्रण हो रहा है, तो कहीं व्याकरणाश्रित भाषा सुधार की सुनियोजित योजना के अन्तर्गत मूल-आगमों का स्वरूप निखारे जाने का प्रयत्न चल रहा है तो कहीं पर अपनी विद्वत्ता को प्रतिष्ठापित करने के लिए ग्रन्थ सन्दर्भों को ही परिवर्तित कर दिया जा रहा है। यह सब अपमिश्रण की प्रक्रिया अनेकान्तमयी ज़िन-शासन की प्रभावना का अग तो नहीं ही बन सकता है। हॉ, इसे स्वार्थपूर्ति साधन दृष्टि और तदनुरूप आचरण की संज्ञा अवश्य दी जा सकती है। मुख्तार सा. जैसी निर्भीक तथ्यपरक कालजयी दृष्टि के आलोक में सांस्कृतिक स्वरूप को देखे जाने की आज सर्वाधिक आवश्यकता है। उनके द्वारा संचालित 'अनेकान्त' पत्र उसका जीवन्त प्रमाण है।

पुरुषार्थ और साहस

श्रमण सांस्कृतिक परम्परानुसार मुख्तार सा को जिन-शासन के प्रभावक आचार्यों में जिस महिमामण्डित आचार्य ने सर्वाधिक प्रभावित किया था वे थे महान् तार्किक आचार्य समन्तभद्र। आचार्य समन्तभद्र की कृतियों पर तथ्य और आगम के परिप्रेक्ष्य में जिस गम्भीरता के साथ उन्होंने चिन्तन-मनन और व्याख्याये प्रस्तुत की हैं, वह आज भी अनुसन्धित्सुओं के लिए प्रेरक और साहस का अनुकरण करते हुए ही उन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया और साहित्य साधना में अनवरत लीन रहे।

आजकल तो शीघ्रातिशीघ्र प्रतिफल की प्रत्याशा में साहस का स्थान चापलूसी ने और पुरुषार्थ का स्थान तिकड़म ने ले लिया है। फलतः नाना उपाधियों और पुरस्कारो की प्राप्ति की होड में पुरुषार्थ-जन्य प्रतिफल का प्रायः अभाव देखा जाता है परिणामस्वरूप उनकी साहित्य साधना का प्रभाव अत्यल्प होता है जबकि मुख्तार सा. के सम्पर्क में आए व्यक्तियों पर उनकी कर्मठता-साहस और पुरुषार्थमय साहित्य साधना का चिरन्तन प्रभाव परिलक्षित हुआ था। अतीत की गौरवशाली परम्परा के सशक्त हस्ताक्षरों में से पूज्य श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी, पं. नाथूराम जी प्रेमी, सूरजभानु जी वकील, ब्र. प. चन्दाबाई जी, श्री बाबू राजकृष्ण, दिल्ली आदि प्रमुख व्यक्तित्व को जिन पर मुख्तार सा. के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का स्थायी प्रभाव पड़ा था। वर्तमान पीढ़ी भी उनकी साहित्य साधना से अभिभूत है। अन्तर है तो बस यही कि पुरानी पीढ़ी अनुकरण और अनुसरण का प्रयास करती थी जबकि वर्तमान पीढ़ी प्रशंसात्मक गुणस्तुति कर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेती है।

साहस और पुरुषार्थ के प्रतीक मुख्तार सा. ने पहले सरसावा में और बाद में दिल्ली में वीर सेवा मन्दिर की स्थापना की और उसके सोद्देश्य सफल संचालन में आजीवन जुटे रहे तथा परम्परया प. पद्मचन्द शास्त्री ने उनका अनुकरण करते हुए जिस साहस और पुरुषार्थ का

परिचय दिया है वैसा आगे हो सकेगा इसकी सम्भावना क्षीणप्राय: ही है क्योंकि आज प्राच्य सस्थाओ को सचालित करने की अपेक्षा युगानुरूप व्यवसायीकरण की प्रवृत्ति हावी है। प्रात· स्मरणीय पू वर्णीजी द्वारा सुस्थापित प्राच्य संस्थाये मृतप्राय: है उनकी ओर कदाचित् ही लोगो की दृष्टि जाती है। ऐसी स्थिति मे सामाजिक एव धार्मिक-शिक्षण-क्रान्ति के प्रतीक इन महत्वपूर्ण केन्द्रो के नष्ट हो जाने पर २१वीं शताब्दी निश्चित रूप मे रिक्तता का अनुभव करेगी। सस्था संचालन मे मुख्तार सा. की कालजयी दृष्टि थी। उनकी धारणा थी कि सामाजिक सम्पत्ति की सुरक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा से भी अधिक महत्वपूर्ण है। व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का यथेच्छया उपयोग और नष्ट तक कर सकता है परन्तु सामाजिक सम्पत्ति के कणमात्र को भी नष्ट करना उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर है। इस धारणा के ठीक बिपरीत आज सामाजिक सम्पत्ति की सुरक्षा करने की बात तो दूर उसके नष्ट होने की प्रतीक्षा की जाती है या उस पर अपना स्वत्व स्थापित करने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद की कुचेष्टाएँ की जा रही है। सामाजिक दायित्व की भावना का प्राय: अभाव देखा जा रहा है और व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति का भाव चरमोत्कर्ष स्थिति पर है। यदि ऐसे मे दृष्टि नहीं बदली तो सामाजिक सस्थाओ का भविष्य निश्चित ही अधकारमय है। या तो वे व्यावसायिक केन्द्र बन जायेगे या वे कालकवलित हो जायेगी।

'युगवीर'

मुख्तार सा. कवि जगत में युगवीर के रूप में जाने जाते हैं। उनकी मेरी भावना समग्र रूप में एक युग चिन्तन का प्रतिनिधित्व करती है। समता, सहिष्णुता, मैत्री, वात्सल्य, करुणा, निर्भीकता जैसे उदात्तगुणो को अभिव्यक्त करती मेरी भावना मात्र युगवीर मुख्तार सा. की वैयक्तिक भावना ही नहीं है वह तो समग्रत: सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संवेदना को व्यक्त करती हुई अजस्र शान्ति स्रोत स्वरूप है जिसकी धारा न कभी अवरुद्ध होने वाली है न ही उसे किसी विश्राम की ही

आवश्यकता है।

आज समाज मे एक नही अनेक वीर-वीरागनाएँ है। मिलन के रूप मे अनेकानेक आयोजन हो रहे है, परन्तु परस्पर की दूरियाँ यथावत् है। इन आयोजनो मे न कही वात्सल्य की भावना प्रस्फुटित होती दिखती है और न ही मैत्रीभाव का कोई चिन्ह दृष्टिगोचर होता है। वैभव और प्रदर्शन की वस्तु बन कर रह जाते है ये बडे-बडे आयोजन। आश्चर्य तब होता है जब इन आयोजनो मे सहभागी-गणमान्य व्यक्ति इनकी निरर्थकता पर सवाल उठाते हुए भी सार्थकता के विषय मे कभी चिन्तन-मनन नहीं करते। कुछ घटो का यह आयोजन परस्पर प्रशसा और वीर-वीरांगनाओ के प्रदर्शन के साथ-साथ समाप्त हो जाते है। इसे सत्संग भी नहीं कहा जा सकता क्योकि सत्सग मे तो कथा-श्रवण आदि होता है। परस्पर सुख-दु:ख की चर्चा भी हो जाती है परन्तु इनमे तो इसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। ये आयोजन सामाजिकता और सौहार्द बढाने में सहायक हुए हों ऐसा कोई उदाहरण सामने नही आया।

भगवान महावीर के अनुयायी होने के कारण तो हम सभी 'वीर' हैं पर क्या हम परम्परागत रूप मे या सास्कृतिक सामाजिक किसी भी दृष्टि से वास्तविक 'वीर' है ? यह चिन्तनीय है। 'युगवीर' जैसा सशक्त व्यक्तित्व सदियो मे होता है लेकिन उसकी अनुगूँज कई शताब्दियो तक लोगो को रोमांचित करती है।

सक्षेपत. मुख्तार सा के अनेक गुण, उनकी सघर्षशीलता, नारिकेल समाहारा व्यक्तित्व, निर्भीक-आगमोक्त निरुक्तियॉ, स्थापनाये, अवधारणाएँ आज के स्वार्थान्ध-युग मे प्रकाश-स्तम्भ के समान है। यदि उनके व्यक्तित्व के अनुजीवी गुणो का अनुकरण करें तो न केवल श्रमण सस्कृति के उन्नयन मे अपना सक्षम योगदान कर सकेगे वरन् भावी पीढ़ी भी हमे कृतज्ञता के साथ स्मरण करेगी।

कर्मठ सतत साहित्य साधना के शक्तिपुज युगवीर मुख्तार सा और उनकी कालजयी दृष्टि को श्रद्धा सहित नमन। • •

महाकवि रविषेण और कालिदास

——डॉ. रमेशचन्द्र जैन

'पद्मचरित' नामक सुप्रसिद्ध काव्यग्रन्थ के प्रणेता **महाकवि रविषेण** की काव्य-प्रतिभा अनुपम है। कवि की रचना के सांगोपांग अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वह अपने पूर्ववर्त्ती कवियों की काव्य-रचनाओ से प्रभावित रहा। उसने कालिदास के ग्रन्थों का भली-भॉति अध्ययन किया था। 'पद्मचरित' में वर्णित कतिपय प्रसग **रविषेण** पर **कालिदास** के प्रभाव को द्योतित करते है।

'रघुवंश' में, इन्दुमती-स्वयंवर के प्रसंग में कहा गया है कि स्वयंवर में उपस्थित भूपालों को छोड़कर इन्दुमती जब आगे बढ जाती है, तब वे राजमार्ग पर दीपशिखा के द्वारा छोडे गये महलो के समान विवर्ण प्रतीत होते हैं। यहॉ राजाओ की विषण्णता तथा उदासी की अभिव्यक्ति कवि-प्रयुक्त 'दीपशिखा' उपमा द्वारा बडी सुन्दरता से की गई है ·

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।।

(रघुवंश, ६/६७)

इसी उपमा के प्रायोगिक सौन्दर्य के कारण महाकवि कालिदास 'दीपशिखा-कालिदास' के नाम से प्रसिद्ध हैं। रविषेणाचार्य ने स्वयंवर के ही प्रसंग में दीपशिखा के स्थान पर चन्द्रलेखा तथा महल के स्थान पर पर्वत की उपमा दी है ·

ततोऽसौ चन्द्रलेखेव व्यतीता यान्नभश्चरान्।
पर्वता इव ते प्राप्ताः श्यामतां लोकवाहिनः।। (पद्मचरित, ६/४२३)

जिस प्रकार, चन्द्रप्रभा जिन पर्वतों को छोडकर आगे बढ जाती है, वे पर्वत अन्धकार से मलिन हो जाते हैं, उसी प्रकार कन्या श्रीमती जिन

विद्याधरो को छोडकर आगे बढ गई, वे शोकाहत और मलिनमुख हो गये।

'रघुवश' मे दिलीप की गोसेवा के प्रसंग मे कहा गया है कि राजा दिलीप नन्दिनी नाम की गाय के खडे हो जाने पर खडे हो जाते थे। जब वह चलती थी, तब राजा भी चलने लगते थे। जब वह बैठ जाती थी, तब राजा भी बैठ जाते थे। जब वह जल पीती थी, तब राजा भी जल पीते थे। इस प्रकार राजा ने छाया के समान नन्दिनी का अनुसरण किया था ·

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्।।

(रघुवश, २/६)

'पद्मचरित' मे भी रत्नश्रवा का केकसी द्वारा अनुगमन इसी प्रकार वर्णित है

व्रजन्ति व्रज्यया युक्त तिष्ठन्ती स्थितिमागते।
छायेव सा त्वभवत् पत्यनुवर्त्तनकारिणी।। (पद्मचरित, ७/१७०)

अर्थात्, जब रत्नश्रवा चलता था, तब केकसी भी चलने लगती थी और जब रत्नश्रवा बैठता था, तब केकसी भी बैठ जाती थी। इस तरह वह छाया के समान पति की अनुगामिनी थी।

कालिदास-कृत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे एक प्रसग है कि मारीच ऋषि ने सर्वदमन के रक्षाकरण्डक मे 'अपराजिता' नामक औषधि बॉध रखी थी। भूमि पर गिरी हुई उस औषधि को माता, पिता तथा स्वयं के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं ग्रहण कर सकता था। यदि कोई उसे ग्रहण कर लेता था, तो वह सर्प बनकर डॅस लेती थी। उसे दुष्यन्त ने अनायास ही उठा लिया, किन्तु पिता होने के कारण उसका उस पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पडा।[1]

'पद्मचरित' मे रावण के बाल्य जीवन के विषय में कहा गया है कि बहुत पहले मेघवाहन के लिए राक्षसों के इन्द्र भीम ने जो हार दिया था, हजार नागकुमार जिसकी रक्षा करते थे, जिसकी किरणे सब ओर फैल रही थीं और राक्षसों के भय से इस अन्तराल मे जिसे किसी ने नहीं पहना था, ऐसे हार को उस बालक ने अनायास ही हाथ से खींच लिया। बालक को मुट्ठी में हार लिये देख माता घबरा गई। उसने बडे स्नेह से उसे उठाकर गोद में लिया और शीघ्र ही उसका मस्तक सूँघ लिया। पिता ने भी हार लिये

उस बालक को बडे आश्चर्य से देखा और विचार किया कि यह अवश्य ही कोई महापुरुष होगा। इसकी शक्ति अवश्य लोकोत्तर होगी। अन्यथा, कौन पुरुष नागेन्द्रो द्वारा सुरक्षित इस हार के साथ क्रीडा कर सकता है।[2]

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में जब दुर्वासा ऋषि कण्व के आश्रम मे पहुँचते है और शकुन्तला दुष्यन्त के प्रति आसक्तचित्त होने के कारण उनका यथोचित आदर नहीं कर पाती, तब वह उसे शाप दे देते है कि जिसके विषय मे एकासक्तचित्त होकर सोचती हुई तुम आये हुए मुझ तपस्वी को नही जान रही हो, वह पहले कही हुई बात को याद नही करने वाले उन्मत्त व्यक्ति की तरह, याद दिलाने पर भी तुमको स्मरण नही करेगा। प्रियवदा और अनसूया नामक शकुन्तला की सखियो को जब दुर्वासा के इस शाप की प्रतीति हुई, तब प्रियवदा ने बहुत अनुनय-विनय कर उन्हे दयाद्रवित किया और उनसे, पहचान के आभूषण दिखलाने से शाप की समाप्ति होने का आश्वासन दिला दिया।

इसी प्रकार के शाप का एक प्रसग 'पद्मचरित' मे भी आया है। आनन्दमाल नामक मुनिराज एक बार जब प्रतिमायोग के साथ विराजमान थे, तब विद्याधरो के राजा इन्द्र ने अहकारवश उनकी बार-बार हॅसी उडाई तथा उन्हे रस्सियो से कसकर लपेट लिया। फिर भी, वह निर्विकार रहे। पर, उन्ही के समीप कल्याण नामक दूसरे मुनि बैठे थे, जो उनके भाई थे, यह दृश्य देख बहुत दु:खी हो गये। वह मुनि भी ऋद्धिधारी थे तथा प्रतिमायोग के साथ विराजमान थे। उन्होने प्रतिमायोग का सकोच कर तथा लम्बी और गरम सॉस भरकर इस प्रकार शाप दिया कि चूँकि इन्द्र ने निरपराध मुनिराज का तिरस्कार किया है, इसलिए वह भी बहुत भारी तिरस्कार को प्राप्त होगा। वह मुनि अपने अपरिमित श्वास से इन्द्र को भस्म ही कर देना चाहते थे, पर इन्द्र की सर्वश्री नामक स्त्री ने मुनि को शान्त कर लिया। सर्वश्री सम्यग्दर्शन से युक्त तथा मुनिजनो की आराधिका थी, इसलिए मुनि भी उसकी बात मानते थे।[3]

'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे तपस्या की शक्ति का वर्णन किया गया है

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति।।

(अभिज्ञानशाकुन्तलम, २/७)

अर्थात्, शान्तिप्रधान तपस्वियों मे जला देने वाला गुप्त तेज रहता है, क्योंकि स्पर्श करने योग्य सूर्यकान्त मणियो के समान (वे तपस्वी) दूसरे के तेज से तिरस्कृत होने पर (अपने) उस तेज को प्रकट करते हैं।

'पद्मचरित' मे भी तपस्या की शक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। तीनों लोको मे कोई ऐसा कार्य नहीं है, जो तप से सिद्ध नहीं होता हो। यथार्थ मे तप का बल सब बलो मे शीर्षस्थ, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ होता है। इच्छानुकूल कार्य करने वाले तपस्वी साधु के जैसी शक्ति, कान्ति, द्युति अथवा धृति होती है, वैसी इन्द्र के भी सम्भव नहीं। जो मनुष्य साधुजनों का तिरस्कार करते है, वे तिर्यक्-गति और नरक-गति मे महान् दु:ख पाते हैं। जो मनुष्य मन से भी साधुजनो का पराभव करता है, वह पराभव उसे परलोक तथा इस लोक मे परम दु:ख देता है। जो दुष्टचित्त मनुष्य निर्ग्रन्थ मुनि को गाली देता है, अथवा मारता है, उस पापी मनुष्य के विषय में क्या कहा जाए।[४]

'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे सूर्य और उसके सारथी अरुण के एक साथ उदय वर्णन है **'आविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।' (अभिज्ञानशाकु., ४/२)** अर्थात्, अरुण को आगे कर एक ओर सूर्योदय हो रहा है।

'पद्मचरित' मे भी कहा गया है कि सूर्य अरुण के साथ मिलकर कार्य करते हैं

भर्त्ताऽपि तेजसां कृत्यं कुरुतेऽरुणसङ्गतः। (पद्मचरित, १६/६६)

निमित्तशास्त्र के अनुसार, दाहिने अग का स्पन्दन शुभ माना जाता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे दुष्यन्त जब कण्व ऋषि के तपोवन में पहुँचता है, तब उसकी (दाई) भुजा फडकती है। इसका फल स्त्री की प्राप्ति है। स्त्री-विहीन आश्रम मे दाई भुजा फडकने पर राजा को आश्चर्य होता है। अन्त मे, उसके फल के विषय मे वह कहता है कि होनहार के द्वार सर्वत्र मुक्त रहते है।[५] 'पद्मचरित' में हरिषेण भी दाई ऑख फडकने के आधार पर निश्चय करता है कि यह शकुन अवश्य ही प्रियजनों का समागम करायेगा।।[६]

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के द्वितीय अक में दुष्यन्त कहता है :

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद् धनम्।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददतयारण्यका हि नः।। (अभिज्ञानशाकु., २/१३)

अर्थात्, राजाओं को चारों वर्णो से जो धन प्राप्त होता है, वह नश्वर है, किन्तु तपस्वी जन हमें जो तपस्या का छठा भाग देते हैं, निश्चय ही वह कभी नष्ट नहीं होता।

उपर्युक्त अभिप्राय एक अन्य प्रसंग में, 'पद्मचरित' मे इस प्रकार वर्णित है :

यस्य देशं समाश्रित्य साधवः कुर्वते तपः।
षष्ठमंशं नृपस्तस्य लभते परिपालनात्।। (पद्मचरित, ७/२८)

अर्थात्, जिस देश का आश्रय पाकर साधुजन तपश्चरण करते हैं, उन सबकी रक्षा के कारण राजा तप का छठा भाग प्राप्त करता है।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के छठे अंक में शकुन्तला का चित्र बनाकर दुष्यन्त कहता है :

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्।।

(अभिज्ञानशाकु., ६/१४)

चित्र में जो सुन्दर नहीं है, वह सब मेरे द्वारा ठीक किया जा रहा है। फिर भी, उस (शकुन्तला) का सौन्दर्य रेखाओं के द्वारा यत्किंचित् ही प्रकट हो पाया है।

'पद्मचरित' में भी नारद सीता का चित्र भामण्डल को दिखाकर कहते हैं

आकारमात्रमत्रैतत्तस्या न्यस्तं मया पटे।
लावण्यं यत्तु तत्तस्यास्तस्यामेवैतदीदृशम्।। (पद्मचरित, २८/३८)

मैंने चित्रपट में उसका यह केवल आकारमात्र ही अंकित किया है। उसका जो लावण्य है, वह उसी में है, अन्यत्र सुलभ नहीं।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के चतुर्थ अंक में चमेली (नवमालिका) का आम्रवृक्ष से मिलना दरसाया गया है।[७] 'पद्मचरित' में भी माधवीलता अपने हिलते हुए पल्लव से मानों सौहार्द के कारण ही आम का स्पर्श करती है।[८]

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के दूसरे अंक में छाया में झुण्ड बनाकर बैठे हुए मृगों की कल्पना की गई है तथा वराहों द्वारा नागरमोथा उखाड़ना वर्णित है।[९] 'पद्मचरित' में भी मृगियों और मृगशावकों को अपने मध्य में बैठाये हुए मृगों तथा दाढ़ों में मोथा-लगे वराहों का वर्णन किया गया है :

अन्तः कृत्वा शिशुगणमिमे कामिनीभिः समेतं
दूरन्यस्तप्रचलनयना भूरिशः सावधानाः।
किञ्चिद् दूर्वाग्रहणचतुराः प्रान्तयाताः कुरङ्गाः
पश्यन्ति त्वां विपुलनयनालम्बितः कौतुकेन।। (पद्मचरित, ४२/४२)
सुन्दरि पश्य वराहं दंष्ट्रान्तरलग्नमुस्तमुन्नतसत्त्वम्।
अभिनवगृहीतपङ्कं गच्छन्तं मन्थरं सघोणम्।। (पद्मचरित, ४२/४३)

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के द्वितीय अक में भैसा द्वारा तालाब के जल को बार-बार उछालने की कल्पना है। 'पद्मचरित' के भी ४२वे पर्व में भैंसा वज्र के समान सींगों द्वारा बामी के उच्च शिखर को भेद रहा है :

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं श्रृङ्गैर्मुहुस्ताडितं।।

(अभिज्ञानशाकु. २१६)

वहन्नसौ दर्पमुदारमुच्चैर्वल्मीकश्रृडगं गवली सुनीलः।
लीलान्वितो वज्रसमेन धीरं भन्ते विषाणेन लसत्खुराग्रः।।

(पद्मचरित, ४२/३८)

'शाकुन्तल' के प्रथम अक मे लता और वृक्ष के जोडे के मिलन की कल्पना की गई है। 'पद्मचरित' के ४४वे पर्व मे भी लता द्वारा कल्पवृक्ष का आलिगन प्रदर्शित है।[१०]

'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे कालिदास ने शकुन्तला को विधाता की विलक्षण स्त्रीरत्न-सृष्टि कहा है। 'पद्मचरित' मे भी राम सीता को स्त्रीविषयक अपूर्व सृष्टि कहते हैं :

स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे। (अभिज्ञानशाकु. २१६)
अपूर्वा यौषिती सृष्टिर्दृष्टा स्यात् काचिदङ्गना।।

(पद्मचरित, ४४/११७)

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के द्वितीय अंक के प्रारभ में 'गण्डस्य उवरि पिण्डओ सवृत्तो'[११] (फोडे पर फोडा होना) मुहावरे का प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य एक कष्ट पर दूसरा कष्ट आना है। 'पद्मचरित' में भी इसी भाव का विवेचन है। राम कहते हैं :

दुःखस्य यावदेकस्य नावसानं व्रजाम्यहम्।
द्वितीयं तावदायातमहो दुःखार्णवो महान्।।

खञ्जपादस्य खण्डोऽयं हिमदग्धस्य पावकः।
स्खलितस्यावटे पातः प्रायोऽनर्था बहुत्वगाः।।
(पद्मचरित, ४४/१४५-१४६)

अर्थात्, जबतक मैं एक दुःख के अन्त को प्राप्त नही हो पाता हूँ, तब तक दूसरा दुःख आ पडता है। अहो! यह दुःख-रूप सागर बहुत विशाल है। प्रायः देखा जाता है कि जो पैर लॅगडा होता है, उसी में चोट लगती है और जो तुषार से सूख जाता है, उसी मे आग लगती है। और फिर, तो फिसलता है, वही गर्त्त मे गिरता है। अनर्थ प्रायः बहुत प्रकार से आते है।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में इन्द्र के सारथी मातलि का उल्लेख है।[१२] 'पद्मचरित' में भी राम को इन्द्र तथा कृतान्तवक्त्र सेनापति को मातलि कहा गया है।[१३]

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुष्यन्त को दी गई शुकन्तला को सुशिष्य को दी गई विद्या से उपमित किया गया है

वच्छे, सुसिस्सपरिदिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्जासि संवुत्ता।
(अभिज्ञानशाकु., पृ. १७७)

इसी भाव को अभिव्यक्ति 'पद्मचरित' मे भी है, जिसमे कहा गया है कि यदि शिष्य शक्ति से सहित है, तो उससे गुरु को कुछ भी खेद नही होता, क्योकि सूर्य द्वारा नेत्रवान् पुरुष के लिए समस्त पदार्थ सुख से दृष्टिगत करा दिये जाते हैं। पात्र के लिए उपदेश देनेवाला गुरु कृतकृत्यता को प्राप्त होता है, क्योकि जिस प्रकार उल्लू के लिए सूर्य का प्रकाश व्यर्थ होता है, उसी प्रकार अपात्र के लिए दिया गया गुरु का उपदेश निरर्थक होता है

न हि कश्चिद् गुरोः खेदः शिष्ये शक्तिसमन्विते।
सुखेनैव प्रदर्श्यन्ते भावाः सूर्येण नेत्रिणे।। (पद्मचरित, १००/५०)
उपदेशं ददत्पात्रे गुरुर्याति कृतार्थताम्।
अनर्थकः समुद्योतो रवेः कौशिकगोचरः।। (पद्मचरित, १००/५२)

इस प्रकार, **रविषेण** ने अनेक स्थानो पर कालिदास के भावों का समाहरण किया है।

सन्दर्भ-संकेत :

१ अभिज्ञानशाकुन्तलम् (सप्तम अंक), पृ ३८३-३८४ (अनु जमुना पाठक)।

२ पद्मचरित, ७/२१५-२१६।

३ उपरिवत्, १३/८२-६०।

४ उपरिवत्, १३/६१-६६।

५ शान्तमिदमाश्रमपद स्फुरति च बाहु कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।।
—अभिज्ञानशाकु, १/१६।

६ यथेदं स्पन्दन्ते चक्षुर्दक्षिणं मम साम्प्रतम्।
तथा च कल्पयाम्येषा प्रियसडगमकारिणी।।
—अभिज्ञानशाकु ८/३६०।

७ 'चूतने संश्रितवती नवमालिकेयम्।'—अभिज्ञानशाकु ४/१३।

८ चलता पल्लवेनेय सम्प्रत्यग्रेण माधवी।
परामृशति सौहार्दादिव चूतमनुत्तरात्।।—पद्मचरित, ४२/३६।

६ छायाबद्धकदम्बक मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु
विश्रब्ध क्रियता वराहततिभिर्मुस्ताक्षति पल्वले।
—अभिज्ञानशाकु २/६।

१० (क) हला, रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकर सवृत्त। —अभिज्ञानशाकु, पृ ४४।
(ख) आलिङ्गति स्म जीवेश वल्ली कल्पतरुं यथा।।
—पद्मचरित, ४४/३६।

११. अभिज्ञानशाकु, पृ ७७।

१२ अये, मातलि स्वागतं महेन्द्रसारथे।—अभिज्ञानशाकुन्तल, पृ ३४४।

१३ रामशक्रप्रियारूढो मनोरथजवो रथः।
कृतान्तमातलि क्षिप्रमुक्ताश्व शोभतेतराम!।।
—पद्मचरित, १७/८०।

जैन मन्दिर के पास
बिजनौर (उ०प्र०)

सम्मेदशिखर विषयक साहित्य

—डा. ऋषभचन्द्र जैन "फौजदार"

बिहारभूमि प्राचीन काल से ही जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र रही है। जैन परम्परा के २४ तीर्थकरों मे से २२ तीर्थकरों ने बिहार से निर्वाण प्राप्त किया है। उनमें बारहवें तीर्थकर वातुपूज्य ने चपायुर (मन्दारपर्वत) से, चौबीसवे तीर्थकर महावीर ने पावापुरी से तथा अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्‌मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयाशनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ और पार्श्वनाथ इन बीस तीर्थकरो ने सम्मेद शिखर पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया है। सम्भवत इसी कारण से इसे अनादितीर्थ या शाश्वत तीर्थ कहा गया है। साहित्य में इसके निर्वाणगिरी, सिद्धगिरि, सिद्धशैल, सम्मेदशिखर, सम्मेदगिरि, सम्मेदपर्वत, सम्मेदशैल, सम्मेदाचल आदि अनेक नाम उपलब्ध होते है।

कुन्दकुन्दकृत निर्वाण भक्ति (प्राकृत), यतिवृषभकृत तिलोयपण्णत्ति, विमलसूरिकृत पउमचरियं, रविषेणकृत पद्‌मपुराण, पूज्यपादकृत निर्वाण भक्ति (संस्कृत), जिनसेन कृत हरिवश-पुराण, गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, वर्धमानकवि कृत दशभक्त्यादिमहाशास्त्र, पं. आशाधरकृत त्रिषष्ठिस्मृति-शास्त्र, असगकविकृत शान्तिनाथपुराण, पउमकित्तिकृत पासणाहचरिउ, नायाधम्मकहाओ, विविधतीर्थकल्प, सकलकीर्तिकृत पार्श्वनाथ चरित, बनारसीदासकृत अर्धकथानक प्रभृति ग्रन्थों में सम्मेदशिखर पर्वत के उल्लेख मिलते हैं। बनारसीदास के अर्धकथानक में दो यात्रा विवरण भी मिलते हैं। एक विवरण का समय संवत् १६१३ और १६२६ के बीच है तथा दूसरे यात्रा विवरण का समय संवत् १६६०-१६६१ है। दूसरे यात्रा विवरण का उल्लेख वीर

विजयमुनि ने अपनी रचना "सम्मेदशिखर चैत्यपरिपाटी" में भी किया है।

प्राय सोलहवीं शताब्दी तक सम्मेदशिखर विषयक स्वतन्त्र साहित्य का अभाव दिखलाई देता है। लेख में उल्लिखित ग्रन्थ प्रशस्तियो से लोहाचार्य विरचित "तीर्थमाहात्मय" का पता चलता है, किन्तु अन्य स्त्रोतो से इसकी जानकारी नहीं मिलती है। यह ग्रन्थ प्राचीन होना चाहिए तथा इसकी भाषा प्राकृत या सस्कृत होना चाहिए, क्योंकि देवकरण ने अपने सम्मेदविलास में इनके ग्रन्थ को "गाथाबध" बताया है। इस ग्रन्थ की खोज आवश्यक है।

प्रस्तुत लेख मे सस्कृत और हिन्दी भाषा के सम्मेद शिखर विषयक स्वतन्त्र साहित्य की हस्तलिखित पाण्डुलिपियो का परिचय दिया जा रहा है -

संस्कृत भाषा की रचनाएँ :–

१. **सम्मेदशिखर माहात्म्य** - इसके कर्त्ता दीक्षित देवदत्त है। डॉ कस्तूरचन्द्र कासलीवाल ने इसका रचनाकाल संवत् १६४५ लिखा है। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियॉ शास्त्र भडार दि. जैन मन्दिर पाटोदी, जयपुर, शास्त्र भडार दि जैन मन्दिर सघी जी जयपुर, शास्त्र भडार दि जैन मन्दिर छोटे दीवानजी जयपुर, महावीर शास्त्र भडार चॉदनगॉव (राज) तथा दि जैन सरस्वती भडार नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली मे उपलब्ध है। यह ग्रन्थ २१ अध्यायो में विभाजित है। कुल ग्रन्थ सख्या १८०० है। दिल्ली की प्रति का प्रारभ, अन्त और प्रशस्ति इस प्रकार है ---

प्रारभ - ध्यात्वा --------- म्यहम्।।

अन्त - यावच्चन्द्र ------------ सता तिष्ठान्।। ११६।।

प्रशस्ति - सम्मेदशिखर पूरब दिशा तीर्थकर चतुबीस।
सेठमल्ल कर जोरि कै जी सुतराय सुवश।।१।।
प्रथम अष्ट सवत्सरे अष्ट चतुर्थ यह साल।
वदि वैशाख रवि पंचमी पूरन ग्रन्थ सहाल।।२।।

इस ग्रन्थ की स १८४५ की एक प्रति दि. जैन मन्दिर ठोलियों का जयपुर में उपलब्ध है। एक अन्य प्रति सवत् १७८५ की बधीचंदजी के मन्दिर जयपुर में भी है। इस प्रकार इसकी कुल सात प्रतियाँ होने की जानकारी है। इसका सम्पादन प. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने किया है।

यह देवदत्त सूरि के नाम से प्रकाशित भी हुआ था।

२. सम्मेदाष्टक - इसके कर्त्ता जगद्भूषण हैं। इसकी पद्य सख्या ६ है। अन्तिम पद्य में कर्त्ता के नाम का उल्लेख है। इसकी पाण्डुलिपि जैन सिद्धांत भवन, आरा मे सुरक्षित है। इसका प्रारभ, अन्त और पुष्पिका निम्न प्रकार है ---

प्रारंभ - एकैकं सिद्धकूट ------ राजते स्पृष्टराजकै ।। १।।

अन्त - आधिव्याधि. प्रवाधि ------- जगद्भूषणानाम्।।१।।

पुष्पिका - इति श्री जगद्भूषणकृत सम्मेदाष्टक सम्पूर्णम्।

३. सम्मेदाचल माहात्म्य स्तोत्र - इसके कर्त्ता अज्ञात हैं। पत्र संख्या तीन है। प्रति पूर्ण है। लेखनकाल संवत् १८२८ है। पद्यो की सख्या २३ है। यह प्रति जैन सिद्धात भवन, आरा में सुरक्षित है। प्रति के प्रारभ, अन्त और प्रशस्ति निम्न प्रकार है ----

प्रारंभ - सम्मेदशैलं -------- भक्तिभरेण नौमि।। १।।

अन्त - तीर्थानामुत्तमं तीर्थ निर्वाणपदमग्रिमम्।
स्थानानामुत्तमं स्थानं सम्मेताद्रे सम नहि।।२३।।

प्रशस्ति - इति सम्मेदाचलमहात्मस्तोत्र समाप्तम्। श्रीरस्तु संवत् १८२८ वर्षे आषाढ द्वितीय वदि अष्टम्यां आदित्यवारे लिखत लक्ष्मणपुरमध्ये श्री पार्श्वनाथचैत्यालये। शुभं भवतु।

४. सम्मेदाचलपूजा - इसके कर्त्ता गंगादास हैं। पत्र संख्या ८ तथा प्रति पूर्ण है। यह जैन सिद्धात भवन, आरा की प्रति है। इसका अन्य विवरण इस प्रकार है ----

प्रारभ - प्रणम्य सर्वज्ञमनंतबोधामाप्तप्रदं सद्गुणरत्नसिद्धम्।
कुर्वे त्रिशुध्या सुभ्रतां हि तीर्थ सम्मेददशैलस्थजिनेन्द्रपूजाम्।।

अन्त - चतु: मुनीन्द्रिभि: श्लोकै मातृछंदो बचोमये।
ज्ञातव्या ग्रन्थसंख्या नृगणकै लेखकोत्तमै ।। ।।

प्रशस्ति - इति भट्टारक श्री धर्मचन्द्र विनुचर पडित गंगादासकृत सम्मेदाचलपूजा समाप्तम्।

इसकी पाँच अन्य प्रतियॉ राजस्थान के शास्त्रभंडारो मे भी उपलब्ध हैं। (रा. सू.-४, पृ ५४६, ७२७ तथा रा सू. ५ पृ. ६२२)

५. **सम्मेदाचलपूजा विधान** - इसके कर्त्ता अज्ञात हैं। प्रति पूर्ण है। लेखनकाल सं १८२६ है। यह जैन सिद्धांत भवन, आरा की प्रति है। अन्य विवरण इस प्रकार है ----

प्रारंभ - मुक्तिकान्तां प्रदातारं स्थानेषु स्थानमुत्तमम्।
मुक्तितीर्थकर प्राप्य वन्दे शैलेन्द्रसिद्धिदम्।।१।।

अन्त - वज्रीचंद्रप्रतेन्द्रषेद्रतरणी ---- प्राप्नुवन्ति शिवम्।।१३।।

प्रशस्ति - इति सम्मेदाचलपूजन विधान समाप्तम्। संवत् १८२६ भाद्रवदि १२ भौम दिने लिषि।

इनके अतिरिक्त भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति कृत सम्मेदशिखर पूजा, दीक्षित देवदत्तकृत सम्मेदशिखरमाहात्म्यपूजा, अज्ञातकर्तृक सम्मेदाचलपूजा उद्यापन, अज्ञात कर्तृक सम्मेदाशिखरपूजा सस्कृत की अन्य रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं।

हिन्दी भाषा की रचनाएँ

६. **सम्मेदशिखर माहात्म्य** - इसके कर्त्ता लालचद है। जैन सिद्धांत भवन, आरा में इसकी तीन प्रतियॉ उपलब्ध हैं। ये तीनों पूर्ण हैं तथा इनकी दशा सामान्य है। प्रथम प्रति का विवरण इस प्रकार है --

प्रारभ - पच परमगुरु को नमो, दोकर सीस नवाय।
श्री जिन भाषित भारती, ताको लागो पाय।।

अन्त - रेवा सहर मनोग, बसैं श्रावग भव्य सब।
आदित्य ऐश्वर्य योग, तृतीय पहर पूरन भयो।।

प्रशस्ति - इति श्री सम्मेदशिखरमाहात्म्ये लोहाचार्यानुसारेण भट्टारक श्री जगत्कीर्ति तच्छिष्य लालचंदविरचिते सूबरकूटवर्णनो नाम एकविंशति: सर्ग:।। २१।।

समाप्त भया। इति श्री सम्मेदशिखर माहत्मजी सम्पूर्णम्। लिखितं गुलालचद अगरवाले जैनी कानसीलगोत्रस्य पुत्र बाबू मुन्नीलालजी के। श्लोक।।१२६०।। मिति जेठ वदी ५ रोज सनीचर। सवंत् १६३३ साल के सम्पूर्ण भया। पत्र चौंतीस।

उक्त ग्रन्थ की **दूसरी प्रति** की अन्तिम प्रशस्ति इस प्रकार है--

"मिति चैत्र शुक्ल ८ रविवार दस्तखत दुरगादास संवत् १६३७ साल।"

तीसरी प्रति की प्रशस्ति मे कालसूचक निम्नलिखित दो दोहे हैं-

"संवत् अष्टादश शतक वानवे अधिक सुजान।
फाल्गुण कृष्ण अष्टमी बुधे पूरण भये गुणखान।।
रघुनाथ दूज के लिखे भव्यन के धर्म काज।
वाचै सुनै सद्र्दहै पावै सर्व सुखधाम।।"

चौथी प्रति बाबा दुलीचद का शास्त्र भंडार, दि जैन मन्दिर तेरहपंथी बडा जयपुर की है। इसकी पत्र संख्या ६५ है। रचनाकाल सं. १८४२ सुदी ५ है। रचना स्थान रेवाडी तथा वेष्ठन सख्या ६६० है।

पाँचवीं प्रति शास्त्रभंडार दि जैन मन्दिर चौधरियों का जयपुर की है, जिसका रचनाकाल स १८४२ तथा लेखन काल सं १८८७ बताया गया है। इसकी पत्रसख्या-२६ तथा वेष्टन संख्या-८८ है। प्रति पूर्ण है।

७. **सम्मेदशिखर माहात्म्य** - इसके कर्त्ता मनसुखलाल है। इसकी पत्र सख्या-१०६ तथा वेष्टन सख्या-१०५६ है। यह प्रति शास्त्र भंडार दि जैन मन्दिर पाटोदी, जयपुर मे स्थित है। अन्त में रचना सम्बन्धी निम्न दोहा दृष्टव्य है ---

बान बेद शशि गये विक्रमार्क तुम जान।
अश्वनि सित दशमी सुगुरु ग्रन्थ समापत जान।।

यह लोहाचार्य विरचित ग्रन्थ की भाषा टीका है।

इसकी **दूसरी प्रति** शास्त्र भडार दि जैन मन्दिर चौधरियों का जयपुर मे उपलब्ध है। इसकी पत्र संख्या १०२ तथा वेष्टन संख्या ७८ है। लेखन काल चैत सुदी २ सवत् १८८४ है।

तीसरी प्रति शास्त्रभंडार दि जैन मन्दिर संघी जी, जयपुर में है। जिसकी पत्र संख्या-६२ तथा वेष्टन संख्या-७६६ है। लेखनकाल चैत सुदी-१५ संवत् १८८७ है।

चौथी प्रति शास्त्र भंडार दि जैन मन्दिर विजयराम पाण्या, जयपुर में उपलब्ध है। इसकी पत्र संख्या-१४२ तथा वेष्टन संख्या-२२ है। प्रति का लेखनकाल पौष सुदी-१५ सवत् १६११ है।

पॉचवीं प्रति दि. जैन बडा मन्दिर तेरहपंथियो का जयपुर में उपलब्ध

है। इसकी पत्र सख्या-१०३ तथा वेष्टन सख्या-१७०८ है। प्रति का रचनाकाल संवत् १८४५ तथा लेखनकाल सं १८५८ ग्रन्थ मे मिला है।

८. **सम्मेदशिखर माहात्म्य** – इसके कर्त्ता का नाम मनसुख सागर लिखा गया है। इसकी पत्र सख्या-१६५ तथा वेष्टन संख्या-५७८ है। लेखनकाल का उल्लेख नहीं है। यह बधीचंद जी के दि जैन मन्दिर जयपुर की प्रति है। ग्रन्थ सूची के अनुसार यह प्रति लोहाचार्य विरचित "तीर्थ माहात्म्य" में से सम्मेदाचल माहात्म्य की भाषा है। इसी मन्दिर में इसकी एक अपूर्ण प्रति और भी है।

९. **सम्मेदशिखर माहात्म्य** – इसके कर्त्ता का नाम लोहाचार्य लिखा है, जो सन्देहास्पद है। इसकी पत्र सख्या-१०३ है। प्रति का अन्तिम पत्र नहीं है। यह जैन सिद्धांत भवन आरा की प्रति है। प्रति का प्रारभ और अन्त इस प्रकार है --

प्रारंभ - श्री ससेवित चरण कमल जुग सब सुख लाइक।
श्री सिवलोक विलोक ज्ञानमय होत सुनाइक।।
अनमित सुख उद्योत कर्म वैरी घनघाइक।
ज्ञान भान परकास पद सब सुखदाइक।।
ऐसे महंत अरिहत जिनद निसि दिन भावतों।
पावौ प्रमाण अविचल सदन वीतराग गुण चावसौ।।

अन्त - बीस हजार वरण बीतंत मानसिक तह असन करत।
दस दुनि पखवारे गये परिमल सहि ----------।।

१०. **सम्मेदशिखर माहात्म्य** – इसके कर्त्ता अज्ञात हैं। प्रति की पत्र सख्या-११ है। लेखनकाल का उल्लेख नहीं है। यह जैन सिद्धात भवन, आरा की प्रति है। प्रति का प्रारभ तथा अन्त इस प्रकार है --

प्रारभ - पूर्ववत्। श्री संसेवित चरण -------- गुन चावसौं।।

अन्त - समोसरन मै जायकै वदे वीर जिनेन्द्र।
अहो नाथ तुम दरसन तै कहै करम के फद।। ८४।।

११. **सम्मेदशिखर माहात्म्य** - इसके कर्त्ता ज्ञात नहीं है। इसकी पत्र संख्या तीन है। प्रति अपूर्ण है। यह जैन सिद्धात भवन, आरा की प्रति है। उपलब्ध प्रति का प्रारंभ और अन्त निम्नवत् है ----

प्रारभ - श्री जिनवर के पूजो पद सरस्वति सीस नवाय।
गनधर मुनि के चरण नमि भाषा कहो बनाय।।
अन्त - व्यालीस मुनि अनगार, मुक्ति गये जग के आधार।
पाहि कूट को हरस न करे, कोड उपवास तनो फल भरे।।

१२. **शिखर माहात्म्य** - इसके कर्त्ता ज्ञात नही हैं। इसकी भाषा हिन्दी गद्य है। हिन्दी गद्य की यह एकमात्र रचना उपलब्ध हुई है। इसकी पत्र सख्या-७० तथा पूर्ण है। दशा अच्छी है। यह जैन सिद्धात भवन, आरा की प्रति है। प्रति मे लेखनकाल नही दिया गया है। प्रति का प्रारभ और अन्त इस प्रकार है ------

प्रारभ - अजितनाथ सिद्धवर कूट। अस्सी कोडि एक अरब चौवन लाख मुनि सिद्ध भये, बत्तीस कोटि उपास का फल इस कूट के दर्शन का फल है।

अन्त - पार्श्वनाथ सुवर्णभद्रकूट। सम्मेदशिखर सुवर्ण कूट से पार्श्वनाथ जिनेद्रादि मुनि एक करोड चौरासी लाख पैतालीस हजार सात सौ ब्यालीस मुनि सिद्ध भये। इस कूट के दर्शन से सोरा (सोलह) करोड उपास का फल है।

१३. **सम्मेदशिखर विलास** - इसके कर्त्ता देवाब्रह्म हैं। पत्र सख्या-४ तथा वेष्टन संख्या-१७१ है। प्रति पूर्ण है। ग्रन्थ सूची मे इसका रचनाकाल १८वी शताब्दी लिखा है। यह शास्त्र भडार दि जैन मन्दिर यशोदानन्दजी जयपुर की प्रति है।

१४. **सम्मेदशिखर विलास** - इसके कर्त्ता रामचद्र है। इसकी पत्र सख्या-७ तथा वेष्टन सख्या ५३/८८ है। प्रति का लेखनकाल सं १६०४ है। यह दि जैन मन्दिर भादवा (राज) की प्रति है।

१५. **सम्मेदशिखर विलास** - इसके कर्त्ता केशरीसिह है। प्रति की पत्र सख्या-३ तथा वेष्टन संख्या-७६७ है। इसका लेखनकाल २०वी शताब्दी अकित है। यह प्रति शास्त्र भंडार दि जैन मन्दिर सघीजी जयपुर मे सुरक्षित है।

१६. **शिखर विलास** - इसके कर्ता धनराज है। ग्रन्थसूची के अनुसार इसका रचना काल स १८४८ है। यह अजमेर शास्त्रभंडार जयपुर की प्रति है।

१७. **शिखरविलास** - इसके कर्त्ता मनसुखराम है। ये ब्रह्म गुलाल

के शिष्य थे। इसकी पत्र सख्या-६३ तथा वेष्टन सख्या-४५ है। इसका रचना काल सं १८४५ आसोज सुदि दशमी है। लेखनकाल सं. १८८५ आषाढ सुदी-१५ है। यह शास्त्रभडार दि जैन मन्दिर ठोलियो का जयपुर की प्रति है।

१८. **शिखर विलास** - इसके कर्त्ता लालचद हैं। ये भट्टारक जगत्कीर्ति के शिष्य थे। इसकी पत्र सख्या-५७ तथा वेष्टन संख्या-४०/१०० है। इसका रचनाकाल संवत् १८४२ और लेखन काल सं १९४७ है। यह दि जैन पचायती मन्दिर अलवर की प्रति है।

१९. **शिखर विलास** - इसके कर्त्ता भागचन्द है। इसकी पत्र संख्या-७ तथा वेष्टन सं-९९ है। कुल पद्यो की सख्या-११८ है। यह दि. जैन मन्दिर पं. लूणकरण पाडया जयपुर की प्रति है।

२०. **शिखर विलास** - इसके कर्त्ता केशरीसिह है। यह गुटका सं. ६ मे सकलित है। इसकी वेष्टन सख्या-१७६ है। यह दि जैन मन्दिर राजमहल (टोक) राजस्थान की प्रति है। सम्भावना है कि इनके शिखरविलास और सम्मेदशिखर विलास दोनो एक ही हो।

२१. **शिखर विलास** - इसके कर्त्ता रामचन्द्र है। इसकी पत्र सख्या-८ है। सूची मे इसका विषय पूजा लिखा है। यह भी सभव है कि इनके शिखरविलास और सम्मेदशिखर विलास दोनो एक ही हो।

२२. **सम्मेदशिखर** - इसके कर्त्ता देवकरण हैं। राजस्थान सूची भाग-५, पृ ११५७ पर इसका उल्लेख है। प्रति का अन्तिम पद्य इस प्रकार है ----

"लोहाचार्य मुनिंद सुधर्म विनीत हैं।
तिन कृत गाथा बंध सुगन्ध पुनीत है।।
साह तने अंबुसार सम्मेद विलास जु।
देवकरण विनवै प्रभु कौ दास जु।।
श्री जिनवर कूं सीस नमावै सोय।
धर्मबुद्धि तहां संचरे सिद्ध पदारथ सोय।।"

२३. **सम्मेदशिखर पच्चीसी** - इसके कर्त्ता खेमकरण है। रा सू भाग-पृ ५ पृ ११०७ पर इसका उल्लेख है, वहॉ इसका रचनाकाल स १८३६ लिखा है।

२४. शिखरगिरिरास - इसके कर्त्ता अज्ञात है। यह भट्टारकीय दि. जैन मन्दिर अजमेर की प्रति है। इसकी पत्रसख्या-१३ तथा वेष्टन सख्या-४८० है। प्रति का लेखनकाल श्रावण सुदी-१४ स १६०१ लिखा गया है।

२५. सम्मेदशिखर स्तवन - इसके कर्त्ता ज्ञात नहीं है। पत्र सख्या-६ वेष्टन संख्या-५६५ है। लेखनकाल का उल्लेख नहीं है। प्रति पूर्ण है। यह दि जैन मन्दिर लश्कर जयपुर की प्रति है।

२६. सम्मेदशिखर यात्रा वर्णन - इसके कर्त्ता पं गिरधारीलाल हैं। यह दि. जैन मन्दिर अजमेर के शास्त्रभंडार की प्रति है। इसकी पत्र सख्या-७ है तथा वेष्टन सख्या-६६४ है। इसका रचनाकाल भादव वदी-१२ सवत् १८६६ है। प्रति पूर्ण है।

२७. सम्मेदशिखर वर्णन - इसके कर्त्ता अज्ञात हैं। यह दि जैन मन्दिर लश्कर, जयपुर की प्रति है। इसकी पत्र सख्या-४ तथा वेष्टन सख्या-५३० है। प्रति का लेखनकाल सवत्-१६६२ है। प्रति पूर्ण है।

उपर्युक्त रचनाओ के अतिरिक्त मनरगलाल कृत "सम्मेदाचल माहात्म्य" का उल्लेख जैनेन्द्र सिद्धात कोश भाग १, पृ ३४८ पर मिलता है। पूजा साहित्य भी पर्याप्त सख्या मे लिखा गया है। हमें जवाहरलाल, नन्दराम, रामचद, भागचद, भ. सरोन्द्रकीर्ति, बुधजन, रामपाल, लालचद, सेवकराम, संतदास, हजारीमल, ज्ञानचद, भागीरथ, द्यानतराय, गगाराम, मोतीराम, मनसुख सागर, तथा अनेक अज्ञात कर्तृक पूजाओं के उल्लेख मिले है, विभिन्न शास्त्र भंडारों मे इनकी पाण्डुलिपियाँ भी उपलब्ध हैं। इनमे से केवल एक-दो पूजाएँ प्रकाशित हुई हैं।

उपर्युक्त शोध-खोज से यह स्पष्ट है कि देश के कोने-कोने मे जैन शास्त्र भडार मौजूद है, उनमे साहित्य उपलब्ध और सुरक्षित है। अत अन्य ग्रन्थो की भी खोज अपेक्षित है। इस दिशा मे मेरा यह छोटा-सा प्रयत्न है। उक्त ग्रन्थ विवरणो से ऐसा लगता है कि अधिकाश ग्रन्थ अप्रकाशित हैं, जो शताब्दियो से अपने उद्धार/सम्पादन-प्रकाशन की बाट देख रहे हैं। अत प्रयत्न अपेक्षित है।

व्याख्याता, प्राकृत एवं जैनशास्त्र
प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान,
वैशाली (बिहार)-८४४१२८

"सुभाषपुरा का प्राचीन जैन मंदिर"

—नरेश कुमार पाठक

मध्यप्रदेश राष्ट्रीय राजमार्ग क्रमाक तीन पर सुभाषपुरा ग्राम स्थित है। पूर्व मे इसका नाम चोरपुरा था जिसे कुछ वर्ष पूर्व से इसका नाम परिवर्तित कर सुभाषपुरा रख दिया गया था। ग्राम के पास पहाडी पर दस शैलाश्रय है जिसमें एक मे उत्कीर्ण ब्राहमी लिपि में अभिलेख जो लगभग पहली-दूसरी शताब्दी ईसवी का है।[१] इन शैलाश्रयों मे लाल गेरू रंग की चित्रकला, चित्रित लिखावट है, जो लगभग पहली-दूसरी शताब्दी एव चौदहवीं शताब्दी का है।[२] ग्वालियर राज्य की पुरातत्व विभाग की रिपोर्ट में सात प्राचीन मंदिरों का उल्लेख है। वर्तमान पॉच मंदिरों के अवशेष दृष्टिगोचर है।[३] इनमें यहॉ लगभग ११वीं १२वीं शताब्दी का शिव मंदिर, शिव मंदिर के पास विशाल प्राचीन मंदिर, चौखम्बा प्राचीन मंदिर एवं बालाजी मंदिर के पास प्राचीन मंदिर है। इन्हीं मंदिरों से थोड़ी दूरी पर एक जैन मंदिर के खण्डहर है।

इस प्राचीन जैन मंदिर के सभी अवशेष यहॉ बिखरे पड़े हैं। वर्तमान मे यह एक चौकोर चबूतरे के रूप में अवस्थित है। मंदिर के द्वार की देहरी है, जिसमें मध्य में सर्प, दायें ओर हाथी एवं बायें ओर सिंह-हाथी का अंकन है। मंदिर के स्तंभ घट पल्लव युक्त चौकोर एवं अष्टकोणीय है। यहॉ के प्राप्त जैन प्रतिमा वितान में तीर्थंकर का खण्डित सिर, त्रिछत्र, दुंदभीक एवं दोनों ओर अभिषेक करते हुये गजराज का अंकन है। दायें ओर चंवरधारी का ऊर्ध्वभाग है, चंवर लिये है, करण्ड मुकुट, कुण्डल, दो एकावली हार पहने है, बायें और चंवरधारी

का चवर व हाथ शेष है। हाथी भी काफी अलकृत है। यहॉ से जैन प्रतिमा का पादपीठ मिला है, जिसमे केवल आसन है। नीचे मध्य मे चक्र दोनो ओर सिहों का अकन है। यहॉ से कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर प्रतिमा रखी है। देव का चेहरा टूटा है। कर्णचाप, श्रीवत्स, प्रभामण्डल से अलकृत है। वितान मे त्रिछत्र दुदभीक अभिषेक करते हुये गजराज का अकन है। दोनो ओर कायोत्सर्ग मुद्रा में एक-एक तीर्थकर प्रतिमा अकित है। पादपीठ पर दाये-बाये चवरधारी खडे है। जो एक भुजा से उत्तरी एव दूसरी भुजा मे चवर लिये पारपरिक आभूषण पहने है। इस मदिर की सबसे सुंदर प्रतिमा तेइसवे तीर्थकर पार्श्वनाथ की पद्मासन ध्यानस्थ मुद्रा मे है। प्रतिमा सिरविहीन है। वक्ष पर श्रीवत्स पीछे सर्प की चार कुण्डलियॉ है। दोनो ओर खडे चवरधारियों के पैर ही है। दाये यक्ष बायें यक्षी का अकन है। दोनो पारपरिक आभूषण पहने हुए है। पादपीठ कमलासन के नीचे विपरीत दिशा मे मुख किये सिह एव मध्य मे चक्र एव सर्प का अकन है। इन जैन प्रतिमाओ के अतिरिक्त हनुमान प्रतिमा का मध्य भाग है। दाया खीच का जमीन पर बाया पैर मुडा हुआ है। देव मेखला, वनमाला एव कमर मे कटार बंधी हुई है। स्थापत्य कला एव मूर्तिशिल्प की दृष्टि से मदिर एव प्रतिमाऐ लगभग ११वीं १२वी शती ईसवी की प्रतीत होती है।

केन्द्रीय संग्रहालय, इन्दौर

सन्दर्भ सूची

१. इ आ. रि १९५६-१९५७ पृष्ठ ७६.
२ इ. आ रि १९५६-१९५७ पृष्ठ २६.
३. ग्वा पु रि. १९१४-१९१५

आवरण २ का शेष

आचार्य सूर्यसागर महाराज के उद्‌गार

त्यागी को किसी सस्थावाद मे नही पडना चाहिए। यह कार्य गृहस्थो का है। त्यागी को इस दल-दल से दूर रहना चाहिए। घर छोडा, व्यापार छोडा, बाल-बच्चे छोडे इस भावना से कि हमारा कर्तृत्त्व का अहभाव दूर हो और समताभाव से आत्मकल्याण करे पर त्यागी होने पर भी वह बना रहा तो क्या किया ? इस सस्थावाद के दल-दल मे फॅसानेवाला तत्त्व लोकैषणा की चाह है। जिसके हृदय मे यह विद्यमान रहती है वह सस्थाओ के कार्य दिखाकर लोक मे अपनी ख्याति बढाना चाहता है पर इस थोथी लोकैषणा से क्या होने जाने वाला है ? जब तक लोगो का स्वार्थ किसी से सिद्ध होता है तब तक वे उसके गीत गाते है और जब स्वार्थ मे कमी पड जाती है तो फिर टके को भी नही पूछते। इसलिए आत्म परिणामो पर दृष्टि रखते हुए जितना उपदेश बन सके उतना त्यागी दे, अधिक की व्यग्रता न करे।

आज का व्रतीवर्ग चाहे मुनि हो चाहे श्रावक, स्वच्छन्द विचरना चाहता है यह उचित नही है। मुनियो मे तो उस मुनि के लिए एक विहारी होने की आज्ञा है जो गुरु के सान्निध्य मे रहकर अपने आचार-विचार मे दक्ष हो तथा धर्मप्रचार की भावना से गुरु जिसे एकाकी विहार करने की आज्ञा दे दे। आज यह देखा जाता है कि जिस गुरु से दीक्षा लेते है उसी गुरु की आज्ञा पालन मे अपने को असमर्थ देख नवदीक्षित मुनि स्वय एकाकी विहार करने लगते है। गुरु के साथ अथवा अन्य साथियो के साथ विहार करने मे इस बात की लज्जा या भय का अस्तित्व रहता था कि यदि हमारी प्रवृत्ति आगम के विरुद्ध होगी तो लोग हमे बुरा कहेंगे। गुरु प्रायश्चित्त देगे पर एक विहारी होने पर किसका भय रहा ? जनता भोली है इसलिए कुछ कहती नही, यदि कहती है तो उसे धर्मनिन्दक आदि कहकर चुप करा दिया जाता है। इस तरह धीरे-धीरे शिथिलाचार फैलता जा रहा है। किसी मुनि को दक्षिण और उत्तर का विकल्प सता रहा है तो किसी को बीसपंथ और तेरहपंथ का। कोई कभी प्रक्षाल के पक्ष में व्यस्त है तो कोई जनेऊ पहिराने और कटि में धागा बॅधवाने में व्यग्र है। कोई ग्रन्थमालाओं के सचालक बने हुए हैं तो कोई ग्रन्थ छपवाने की चिंन्ता में गृहस्थों के घर-घर से चन्दा

मॉगते फिरते है। किन्हीं के साथ मोटरें चलती हैं तो किन्हीं के साथ गृहस्थजन दुर्लभ .ोमती चटाइयॉ और आसन के पाटे तथा छोलदारियॉ चलती हैं। त्यागी ब्रह्मचारी लोग अपने लिए आश्रय या उनकी सेवा में लीन रहते हैं। 'बहती गंगा में हाथ धोने से क्यों चूकें।' इस भावना से कितने ही विद्वान् उनके अनुयायी बन ऑख मीच चुप बैठ जाते है या हॉ मे हॉ मिला गुरुभक्ति का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने मे सलग्न रहते हैं। ये अपने परिणामों की गति को देखते नहीं हैं।

व्रती के लिए शास्त्र मे नि शल्य बताया है। शल्यो में एक माया भी शल्य होती है। उसका तात्पर्य यही है कि भीतर कुछ रूप रखना और बाहर कुछ रूप दिखाना। व्रती मे ऐसी बात नही होना चाहिए। वह तो भीतर बाहर मनसा-वाचा-कर्मणा एक हो।

'मेरी जीवन गाथा' से साभार

'अनेकान्त'

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु

वार्षिक मूल्य : ६ रु., इस अक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

यह अक स्वाध्यायशालाओ एवं मदिरों की मॉग पर निःशुल्क

●

विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारो से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एव समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

●

सपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, संपादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक : श्री भारतभूषण जैन, एडवोकेट, वीर सेवा मदिर, नई दिल्ली-२

मुद्रक · मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62